॥ श्रीः ॥

हरिदास संस्कृत ग्रन्थमाला

२६८

विविधप्रश्नोत्तरादिसहिता

रघुवंश-प्रश्नोत्तरी

(सर्ग २-३)

सम्पादकः

पण्डित रामचन्द्रझा व्याकरणाचार्यः

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१

प्रकाशक : चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी
मुद्रक : चौखम्बा प्रेस, वाराणसी
संस्करण : प्रथम, वि० सं० २०३२
मूल्य : [illegible]-५०

CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE
REVISED PRICE
Rs 57/-
VARANASI

© The Chowkhamba Sanskrit Series Office
Gopal Mandir Lane
P. O. Chowkhamba, Post Box 8
Varanasi–221001 (India)
1976
Phone : 63145

अपरं च प्राप्तिस्थानम्
चौखम्बा अमरभारती प्रकाशन
गोपाल मन्दिर लेन, वाराणसी–२२१००१

रघुवंश-प्रश्नोत्तरी

कालिदास का जीवनवृत्त (प्रश्न ई० ६२)

रघुवंश के रचयिता महाकवि कालिदास के काल का जिस प्रकार ठीक-ठीक पता नहीं चलता[1], उसी प्रकार इनका जीवनवृत्त भी अन्धकार में ही है। महाकवि के विषय में अनेक लोकोक्तियाँ प्रचलित हैं। कुछ विद्वान् इन्हें उज्जयिनी का निवासी मानते हैं तो कुछ काश्मीर का। कुछ विद्वान् इन्हें विदर्भ का निवासी बताते हैं तो कुछ बंगाल या बिहार[2] का। प्राचीन विद्वानों में

---

१. द्र० लेखक के 'प्रथम सर्ग का पर्यालोचन'—चौखम्बा प्रकाशित।

२. बिहार विशेषतः शक्त्युपासक प्रान्त है; उस प्रान्त में कालिदास, कालीकान्त, कालीनाथ, कालिकाचरण आदि नाम बहुधा देखने-सुनने को मिलते हैं। जिला मधुबनी के निकट 'उच्चैठ' नामक गाँव में कालिदास की अधिष्ठात्री देवी, (कहा जाता है कि इसी देवी के चरणों पर कालिदास ने अपनी जीभ को काट कर चढ़ा दिया था, उसी देवी) का एक दिव्य मन्दिर अब तक कालिदास के जन्मस्थान का साक्षी है। बहुत से साधक प्रभावित होकर उस मन्दिर पर तपस्या करते रहते हैं। अस्तु, शाकुन्तल के कालिदास को बिहारी होने में शाकुन्तल का एक प्रसंग सबल मापक प्रतीत होता है। जिस दिन (अं० २) राजा दुष्यन्त के साथ शकुन्तला का गान्धर्वविवाह होने वाला है उसी दिन उनकी माता का अनुचर (करभक) आकर कहता है—"देव्य आज्ञापयति आगामि चतुर्थदिवसे०" अर्थात् "मातायें आपको आज्ञा देती हैं कि आगामी चौथे दिन 'पुत्रपिण्डपालन' नाम का उपवास होगा उस दिन तुम अवश्य उपस्थित होकर हमें आनन्दित करो।" यह सुनते ही राजा धर्मसंकट में पड़ जाते हैं और अन्त में अपने विदूषक (माधव्य) को अपने स्थान पर प्रतिनिधि बना कर भेज देते हैं। धर्मसंकट का गुप्त कारण प्रायः यही है कि विवाहोपरान्त चार दिन तक सीमोल्लंघन वर्जित है। अभी भी यह प्रथा बिहार में प्रचलित है। पद्धति भी इसका पोषक है। (द्र० लेखक सम्पादित विवाह पद्धति की 'विवाह-समीक्षा'—चौखम्बा प्रकाशित।)

महाकवि के जीवनवृत्त के सम्बन्ध में एक बहुत ही रोचक कथानक प्रसिद्ध है। एक महाभिमानी नास्तिक राजा ने अपनी विदुषी कन्या से पूछा—"सबसे बड़ा कौन है ?" पुत्री ने उत्तर दिया—'ईश्वर' ? इस पर राजा असन्तुष्ट होकर मन्त्रियों से कहा—जो सबसे मूर्ख हो उसे पकड़ ले आओ, उसीके साथ इसका विवाह होगा। एक दिन एक मूर्ख ने वृक्ष के ऊपर जिस डाल पर बैठा था उसी डाल को काट रहा था, यह देख राज-पुरुष उसे राज-सभा में पकड़ ले आया। राजा ने अपनी विदुषी लड़की से पूछा, कहो, तुम्हारे ईश्वर कितने हैं ? लड़की ने उत्तर दिया—एक ? फिर उस मूर्ख से भी यही पूछा गया। उसने बिना समझे-बूझे कहा—'दो' ? राजा के पण्डितों ने उसे द्वैत (प्रकृति-पुरुष) वादी समझ कर उसकी बड़ी प्रशंसा की। राजा ने उसके साथ अपनी विदुषी लड़की का विवाह कर दिया। विवाह के बाद जब उस लड़की को मालूम हुआ कि उसका पति वज्र मूर्ख है तो उसने उसे घर से निकाल बाहर कर दिया। इससे वह मूर्ख बहुत दुखी हुआ—पत्नी के धिक्कार से उसकी चेतना जग उठी, उसने वहाँ से सीधे तपोवन में जाकर हठयोग-साधन में बैठ गया। कितने दिन बीत गये। जब उसे ब्रह्मसाक्षात्कार नहीं हुआ तो, एक दिन उसने एक मन्दिर में जाकर भगवती काली के चरणों पर अपनी जीभ काट कर रख दी। कहा जाता है कि इस पर भगवती ने उसे साकार होकर दर्शन दिया। भगवती के दर्शन से वह मूर्खसाधक सब शास्त्रों में पारंगत हो गया। उसी दिन से लोग उन्हें—'कालिदास' कहने लगे। इसके बाद कालिदास पुनः राजभवन (ससुराल) लौट आये। इनके आगमन का समाचार सुनकर इनकी पत्नी (राजकुमारी विद्योत्तमा) बाहर आई। उसने संस्कृत में इनसे पूछा—"अस्ति कश्चिद् वाग्विशेषः ?" कहा जाता है कि कालिदास ने उसके इस वाक्य से तीन शब्दों को लेकर तीन ग्रन्थ ही रच डाले—'अस्ति' से "अस्त्युत्तरस्यां दिशि" इत्यादि 'कुमारसम्भव महाकाव्य', 'कश्चित्' से "कश्चित् कान्ता" इत्यादि 'मेघदूत खण्ड काव्य' तथा 'वाग्' से "वागर्थाविव सम्पृक्तौ" इत्यादि 'रघुवंश महाकाव्य'।

कालिदास के निधन के सम्बन्ध में कहा जाता है कि कालिदास सिलोन (लंका) के राजा 'जानकीहरणमहाकाव्य' के रचयिता महाकवि कुमारदास के

परम मित्र थे। एक बार ये अपने मित्र के राज-दरबार की एक वेश्या के चंगुल में जब नहीं फंस सके तो उसने इन्हे जहर खिला कर मार डाला।

कालिदास के ग्रन्थ

(प्रश्न ई० ६२)

कालिदास के रचित ग्रन्थों के विषय में भी विद्वानों में मतैक्य नहीं है, तथापि दो महाकाव्य—रघुवंश और कुमारसम्भव। एक खण्डकाव्य – मेघदूत और तीन नाटक—अभिज्ञानशाकुन्तल, विक्रमोर्वशीय और मालविकाग्निमित्र, कालिदास के रचे हुए माने जाते हैं। इनके अलावा ऋतुसंहार और श्रुतबोध भी कालिदास की रचना कही जाती हैं।

दिलीप की गोसेवा का वर्णन

'कामधेनु की पुत्री नन्दिनी गौ की सेवा से ही आपको पुत्र-दर्शन होगा' गुरु वसिष्ठ के ऐसा कहने पर दूसरे दिन प्रातःकाल राजा दिलीप नन्दिनी को आगे करके उनके पीछे-पीछे चराने के लिये गोसेवार्थ आश्रम से वन को चल पड़े। उनके पीछे रानी सुदक्षिणा और राजा के अनुचर (अंगरक्षक) वर्ग भी चले, पर राजा ने सुदक्षिणा सहित उन सभी अनुचरों को वनप्रान्त से लौटा दिया क्योंकि सूर्यवंशी राजा लोग अपने पराक्रम से ही अपनी रक्षा में समर्थ होते थे। वन में राजा दिलीप कोमल-कोमल हरी-हरी घासों के कवलों से, शरीर के खुजलाने से, एवं शरीर पर से वनमक्षिकाओं के उड़ाने से तथा बेरोक-टोक स्वच्छन्द होकर वन में विचरण करने देने से नन्दिनी की सेवा में लगे रहते थे। वन में राजा नन्दिनी के रुकने पर रुकते हुए, चलने पर चलते हुए, बैठने पर बैठते हुए इस प्रकार छाया की तरह नन्दिनी की सेवा सावधान होकर करते थे। उस समय राजा दिलीप के प्रभाव से उस वन में निर्बल जीव-जन्तुओं पर सिंहादि-प्रबल जानवरों का आक्रमण बन्द हो गया। वन की दावाग्नि आप से आप बुझ गयी। वन के पौधे फल-पुष्पों से लद गये। इस प्रकार दिन के बीत जाने पर नन्दिनी के पीछे-पीछे जब राजा

दिलीप आश्रम को लौटते थे तो उस समय छोटे-छोटे जलाशयों से निकले हुए वनैले सूकरों के झुण्डों से तथा अपने-अपने निवास वृक्षों पर बैठे बादलों की ओर देख रहे मयूरों से एवं हरिणों के झुण्ड जिस पर बैठे थे ऐसे हरित बाल-तृणों से भी हरे-भरे, याने सर्वत्र श्याम ही श्याम वन-प्रदेश दिखाई देता था। प्रत्यह रानी सुदक्षिणा पहले से ही उन दोनों के आगमन की प्रतीक्षा करती रहती थी। आश्रम के निकट राजा दिलीप से आगे आ रही और रानी सुदक्षिणा से अगवानी की गयी पल्लवस्निग्धपाटला वह नन्दिनी राजा और रानी के बीच में दिन-रात के मध्य में स्थित सन्ध्या काल की तरह शोभित होने लगती थी। नवजात बछड़े के लिये अत्यन्त उत्कंठित होने पर भी नन्दिनी स्थिरतापूर्वक साक्षतपात्रहस्ता सुदक्षिणा की पूजा और प्रदक्षिणादि सत्कार को प्रत्यह ग्रहण कर लेती थी। यह देख रानी-राजा अपने मनोरथ को सफल होने की आशा करते थे। वन से आने पर राजा दिलीप गुरु-पत्नी अरुन्धती सहित गुरु-चरणों के प्रणामोत्तर सायं कृत्य समाप्त कर के गौ-दोहन के पश्चात् बैठी हुई उस नन्दिनी को रात्रि-सेवा में पुनः जुट जाते थे। इस प्रकार गुरु वसिष्ठ से प्रदिष्ट संयम-नियम को धारण किये हुए राजा दिलीप के गो-सेवाव्रत के २१ दिन बीत गये। याने २१ दिनों तक राजा दिलीप ने निर्विच्छिन्न अहर्निश नन्दिनी की सेवा की।

सिंह-दिलीप का संवाद

(प्रश्न ई० ६३, ७४, ७५)

राजा दिलीप की नन्दिनी-सेवा के २१ दिन बीत जाने पर २२वें दिन वन में जब कि राजा दिलीप हिमालय की शोभा देखने में तल्लीन थे, उसी समय दिलीप की भक्ति की परीक्षा करने के लिये नन्दिनी हिमालय की गुफा में घुस कर माया-निर्मित बनावटी सिंह से आक्रान्त होकर बहुत जोर से चिल्ला उठी। उसके करुण आर्तनाद को सुनकर दिलीप ने नन्दिनी को दबोच कर उसके शरीर पर चढ़े हुए उस सिंह को तुरत मारने के लिये तरकस से बाण निकालने लगे, पर उनका हाथ बाण से चिपक गया। इससे राजा दिलीप

चकित होकर कि कर्त्तव्य-विमूढ़ हो उठे। यह देख वह सिंह मनुष्य की बोली में राजा से कहने लगा—

हे महीपाल ! मेरे मारने का सारा प्रयास तुम्हारा व्यर्थ हो जायगा। मुझे कैलासपति शंकर का 'कुंभोदर' नामक सेवक समझो। इस पुरोवर्ती देवदारु वृक्ष को देखते हो, इसे माता पार्वती ने अपने पुत्र कार्तिकेय के समान सुवर्ण-कलश से सींच-सींच कर पाला है। इसी की रक्षा के लिये मैं यहाँ रखा गया हूँ। भगवान् शंकर ने समीप में आ जाने वाले प्राणियों पर ही अपना जीवन-निर्वाह करने को मुझे कहा है। मैं बहुत दिनों से भूखा हूँ। आज व्रतान्त पारणा की तरह यह गौ मुझे प्राप्त है। इसे बचाने की व्यर्थ चेष्टा मत करो। इस विषय में तुम्हारी लाचारी गुरु वसिष्ठ भी समझ जायेगें। तुम आश्रम को लौट जाओ।

सिंह के वचनों को सुनकर राजा दिलीप ने कहा—हे मृगेन्द्र ! भगवान् शंकर और गुरु वसिष्ठ दोनों ही मेरे सूर्यवंश के पूज्यतम हैं। दोनों का आदर करना मेरा कर्त्तव्य है। यदि समीप में आई हुई इस गौ से ही अपनी क्षुधा को शान्त करने के लिये आप अडिग हैं तो समीप में आये हुए मेरे शरीर से ही अपनी क्षुधा शान्त कर लें और गुरु वसिष्ठ की होमसाधनीभूता इस गौ को छोड़ दें। यह सुनते ही विहुंस कर सिंह ने कहा—हे प्रजानाथ ! तुम्हारे मरने पर केवल यह एक गौ ही कल्याण को प्राप्त करेगी और तुम्हारे जीवित से तो असंख्य प्रजाओं का कल्याण हो रहा है। प्राण देने का यह तुम्हारा विचार मूर्ख के समान प्रतीत होता है, राजन् ! तुम तो इस एक गौ के बदले गुरु को करोड़ों गौएँ देकर सन्तुष्ट कर सकते हो। इस प्रकार सिंह के अनेकानेक वचनों को सुनकर राजा दिलीप पुनः सिंह से जब कहने लगे, उस समय जमीन पर करवट गिरी हुई नन्दिनी अपनी खुली कातर एक आँख से राजा दिलीप को देख रही थी, उससे राजा अत्यन्त आर्द्र हो रहे थे। राजा दिलीप ने कहा—हे मृगेन्द्र ! मैं क्षत्रिय हूँ, अगर इस गौ को मैं नहीं बचा सका तो मुझ सूर्यवंशी राजा दिलीप के लिये मर जाना ही श्रेयस्कर है। इसलिए हे भूतनाथानुगः ! दीन-दुखियों की मनःकामना को पूर्ण करने वाले आशुतोष भगवान् शंकर सर्वोपरि हैं, आप उन्हीं के सेवक हैं, इस गौ को छोड़ दीजिये और लीजिये

गौ के बदले मैं अपना शरीर अर्पण करता हूँ, यह कह कर राजा दिलीप ने आँखें मूँद कर सिंह के सामने मांस पिण्ड की तरह घुटने टेक दिये। फिर क्या था? आकाश से पुष्प-वृष्टि होने लगी। माया-मृगेन्द्र अलक्षित हो गया और नन्दिनी ने—राजा दिलीप को पुत्रप्राप्ति रूप वरदान दे दिया।

इन्द्र-रघु का संवाद या युद्ध

(प्रश्न ई० १९७४)

युवराज रघु को यज्ञ के विजयी घोड़े की रक्षा में नियुक्त करके भूपति राजा दिलीप ने ९९ अश्वमेध यज्ञों को पूरा करके १००वें अश्वमेध यज्ञ (क्रतु-शत) पूरा करनेके लिये पूर्ववत् युवराज रघु को यज्ञाश्व का रक्षक नियुक्त करके जब घोड़े को छोड़ा तो इस वार सौवें यज्ञ को (शतक्रतु बनने देने को) नहीं चाहने वाले क्रतुध्वंसी सुरपति इन्द्र ने चुपके से स्वयं मानवरूप में आकर शिविर से घोड़े को चुरा लिया। शिविर से अचानक घोड़े के अदृश्य होते ही राज-कुमार रघु व्यग्र हो उठे। इतने में रघु को किंकर्तव्यविमूढ़ देख रघु-जन्म की वरदात्री गौमाता नन्दिनी वहां आ पहुँची और सगर्व प्यार से जब रघु को देखने लगी—आजूंघन करने लगी, तब कुमार रघुने उस नन्दिनी के मूत्र से आँखों को पोंछ कर सामने ऊपर आकाश में घोड़े को चुरा कर ले जाते हुए इन्द्र को देखा। फिर क्या था? जोरों से ललकार कर रघु ने कहा—"हे देवेन्द्र! आप सभी देवों के राजा हैं, यज्ञ में सर्वप्रथम आप ही की पूजा होती है, यदि आप ही यज्ञध्वंस के लिये इस तरह के गर्हित कर्म करेंगे तो यज्ञ कैसे होगा—भूलोक का धर्म-कर्म रसातल को चला जायगा।"

इसप्रकार रघु का अनेकानेक कटु-सत्य वचनों को सुनकर इन्द्रने कहा—"हे रघु क्या तुम नहीं जानते कि त्रिलोक में स्वर्ग का राजा इन्द्र ही शत-क्रतु (सौ यज्ञों को पूरा करने वाला) कहलाता है। तुम्हारे पिता सौवां यज्ञ पूरा करके शतक्रतु (स्वर्ग का राजा) बनना चाहते हैं। इसे मैं कैसे सहन करूँगा। तुम इस झगड़े में मत पड़ो—लौट जाओ, नहीं तो (तुम्हारे

पूर्वज महाराज--) सगर के पुत्रों[१] की तरह तुम्हारी भी दशा होगी—मारे जाओगे।

इन्द्र का काकुपूर्ण इस कुत्सित वचन को सुनते ही सूर्यवंश के महाप्रतापी नन्दिनी का वरदपुत्र राजकुमार रघु ने तम-तमा कर कहा—"तैयार हो जाओ देवेन्द्र ! युद्ध में अभी-अभी मैं तुम्हारे घमंड को चूर-चूर कर देता हूँ। (अच्छा हुआ कि तुमने मेरे पूर्वज पूज्यतम महाराज सगर की याद दिलाई है, उसका भी बदला मैं अभी चुकाता हूँ। मेरे पराजित किये विना अब तुम मेरे विश्वविजयी अश्व को एक पग भी आगे नहीं ले जा सकते।)

(देखते हो मैं अपनी पुत्रवत्सला जननी गौमाता नन्दिनी की छाया में खड़ा हूँ, तुम मेरा कुछ भी नही विगाड़ सकते देवेन्द्र !) यह कह कर राजकुमार रघु ने अपने अजेय धनुष को तान कर इन्द्र के वक्षस्थल को एक ही बाण से विदीर्ण कर डाला। इन्द्र तिल-मिला उठे, उन्होंने कुमार रघु पर अमोघास्त्र को ही छोड़ दिया। इससे कुमार रघु ने और भी उत्तेजित हो कर इस वार देवराट् इन्द्र के वज्रांकित ध्वज को ही काट डाला। अमरावती के राष्ट्रध्वज को क्षत-विक्षत होते देख, ध्वजविहीन रथ से अत्यन्त कुपित होकर इन्द्र ने रघु के ऊपर वज्र का प्रहार ही कर दिया। इससे कुमार रघु पल भर के लिये तो मूर्च्छित हो गये, पर तुरत सम्हल कर इन्द्र के ऊपर बाणों की वर्षा करने लगे---रघु के बाणों से इन्द्र ही ढक गये। इस प्रकार होनहार बालक नरेन्द्र और देवेन्द्र में घनघोर युद्ध होने लगा।

---

१. रघुवंशी महाराज सगर ने महाराज दिलीप की ही तरह अपने पुत्रों के संरक्षकत्व में ९९ यज्ञोपरान्त १०० वें यज्ञ के घोड़े को जब छोड़ा था, उस समय इन्द्र ने उस घोड़े को चुराकर चुपके से महर्षि कपिल के आश्रम में बान्ध दिया था। उस घोड़े को खोजते-खोजते सगर के ६०००० पुत्रों ने जब कपिल के आश्रम में उसे बंधा हुआ देखा तो महर्षि कपिल को ही चोर समझ कर कुत्सित वचनों से उनकी चिर समाधि को भंग कर दिया, उस पर महर्षि कपिल कुपित हो उठे और उनकी आखें खुलते ही उनके क्रोधानल में सगर के सभी पुत्र भस्मसात् हो गये। उन्ही के उद्धार के लिये सूर्यवंशी महाराज भगीरथ ने अपनी विकट तपस्या से सुर नदी भगवती गंगा को भूतल पर लाया है।

अन्त में रघु को अजेय समझ कर अपनी प्रतिष्ठा को बचाने के लिये देवेन्द्र ने कहा—"युवराज वत्स रघु ! शाबास !! तुम सूर्यकुल के दीपक हो ? मेरी इच्छा है कि तुम घोड़े का हठ छोड़ दो और जो चाहो मन पसन्द वर मांग लो।"

यह सुन राजकुमार रघुने कहा—"हे देवेन्द्र ! यदि आप घोड़े को नहीं ही देना चाहते हैं तो मुझे यही वरदान दीजिये कि मेरे जनक सूर्यवंशी नरेन्द्र अयोध्याधिपति महाराज, आप (देवेन्द्र) के वरदान से सौवें अश्वमेध यज्ञ के पूर्ण फल को प्राप्त करें और इस वरदान को मेरे जनक आपके दूत के मुख से ही सुनें (मुझे नतमस्तक होकर न कहना पड़े)" इन्द्र ने कहा—'एवमस्तु',—(शुभास्ते सन्तु पन्थाय.)।

रघुवंशे द्वि० सर्गे प्रश्नाः

ई० १९६२

१—निम्नांकितेषु द्वयोरेव सन्दर्भपूर्वकं व्याख्या कार्या—

(क) पुरस्कृता वर्त्मनि पार्थिवेन प्रत्युद्गता पार्थिवधर्मपत्न्या ।
तदन्तरे सा विरराज धेनुर्दिन-क्षपा-मध्यगतेव सन्ध्या ॥ २० ॥

(ख) स पाटलायां गवि तस्थिवांसं धनुर्धरः केसरिणं ददर्श ।
अधित्यकायामिव धातुमय्यां लोध्रद्रुमं सानुमतः प्रफुल्लम् ॥ २९ ॥

(ग) तदाप्रभृत्येव वनद्विपानां त्रासार्थमस्मिन्नहमद्रिकुक्षौ ।
व्यापारितः शूलभृता विधाय सिंहत्वमंकागतसत्त्ववृत्ति ॥ ३८ ॥

२—रघुवंशमहाकाव्यं केन कविना रचितम् । तस्य कवेः वृत्तम्, कविना ये केचन अन्ये प्रबन्धाः प्रणीताः तेषां नामान्यपि लेख्यानि । (द्र० पृ० १,३)

प्रश्नोत्तराणि

१—(क) वर्त्मनि = मार्गे (वसिष्ठाश्रमनिकटपथे) पृथिव्याः ईश्वरः पार्थिवः, तेन पार्थिवेन = राज्ञा दिलीपेन (वनात् प्रत्यावर्तनकाले) पुरस्कृता = अग्रतः कृता, पार्थिवस्य = दिलीपस्य, धर्मपत्नी = पाणिगृहीता भार्या सुदक्षिणा, तया, प्रत्युद्गता = प्रत्युच्चलिता (स्वागतार्थमिति भावः) । सा = धेनुः नन्दिनी, तयोः = सुदक्षिणा–दिलीपयोः, अन्तरे = मध्ये, (स्थिता), दिनक्षपामध्यगता = दिनरात्र्योर्मध्यगता (अन्तरस्थिता), सन्ध्या इव = सायं समय इव, विरराज = शुशुभे ॥ २० ॥

(क) वन से लौटते समय वशिष्ठाश्रम के निकट—रास्ते में राजा दिलीप द्वारा आगे की गयी (आती हुई) और वसिष्ठाश्रम से आती हुई उनकी धर्मपत्नी भार्या सुदक्षिणा से सम्मानार्थ अगवानी की हुई वह नन्दिनी सुदक्षिणा और दिलीप के बीच में दिन के अन्त और क्षपा (रात्रि) के पूर्व में स्थित सन्ध्या समय की तरह सुशोभित हुई ॥ २० ॥

(ख) नन्दिनीसम्बन्धि गुहानिबद्धप्रतिशब्दं श्रुत्वा—धनुर्धरः सः = राजा दिलीपः, पाटलायां = श्वेतरक्तवर्णायां, 'श्वेतरक्तस्तु पाटलः' इत्यमरः ।

गवि = धेनौ, तस्थिवांसं = स्थितं, केसरिणं = सिंहम्, सानुमतः = अद्रेः, धातुमय्यां = गैरिकवत्याम्; अधित्यकायाम् = ऊर्ध्वभूमौ, 'उपत्यकाद्रेरासन्ना भूमिरूर्ध्वमधित्यका' इत्यमरः। प्रफुल्लं = विकसितं, लोध्राख्यं तरुमिव, ददर्श = अपश्यत् ॥ २९ ॥

(ख) पर्वतकन्दरा में नन्दिनी के आर्तनाद के प्रतिशब्दों को सुनते ही कैलास की शोभा-दर्शन से अपनी दृष्टि को हटाकर दिलीप ने ईषत् श्वेतयुक्त लाल रंग वाली उस नन्दिनी गौ के ऊपर बैठे हुए एक सिंह को गैरिक धातुमयी ऊंची जमीन पर उगे हुए विकसित लोध्र वृक्ष की तरह देखा ॥ २९ ॥

(ग) यदा वन्यद्विपेन देवदारुवृक्षस्यास्य वल्कलमुन्मथिता—तदाप्रभृत्येव = तत्कालादारभ्यैव, वनद्विपानां = वनगजानाम्, त्रासार्थं = भयार्थम्, शूलभृता = शिवेन, अङ्कं (समीपम्) आगताः (प्राप्ताः) सत्त्वाः (प्राणिनः) वृत्तिः (भोजनं) यस्मिन् तत् अङ्कागतसत्त्ववृत्ति, सिंहत्वं = मृगेन्द्रत्वं, विधाय = सम्पाद्य, अस्मिन्, अद्रिकुक्षौ = पर्वतोदरे, (पर्वतगुहायाम्), अहं-कुम्भोदरनामकः सिंहः, व्यापारितः = नियुक्तः ॥ ३८ ॥

(ग) तभी से अर्थात् देवदारु वृक्ष की छाल उचाड़े जानेपर ही, उपद्रवी जंगली हाथियों को त्रास देने के लिए त्रिशूली भगवान् शंकर ने निकट में आ जाने वाले प्राणियों पर ही अपना भोजन चलाने वाले सिंह का रूप देकर मुझे इस पर्वत की गुफा में नियुक्त किया है ॥ ३८ ॥

२—अस्योत्तरं १, ३ पृष्ठे] द्रष्टव्यम् ।

रघुवंशे द्वि० सर्गे प्रश्नाः

ई० १९६२

१—अधोलिखितेषु श्लोकेषु कयोरेव द्वयोः सन्दर्भपुरःसरं व्याख्या विधेया—

(क) निवर्त्य राजा दयितां दयालुस्तां सौरभेयीं सुरभिर्यशोभिः ।
　　पयोधरीभूतचतुःसमुद्रां जुगोप गोरूपधरामिवोर्वीम् ॥ ३ ॥

(ख) वत्सोत्सुकापि स्तिमिता सपर्यां प्रत्यग्रहीत् सेति ननन्दतुस्तौ ।
　　भक्त्योपपन्नेषु हि तद्विधानां प्रसादचिह्नानि पुरःफलानि ॥ २२ ॥

(ग) क्षतात् किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः ।
राज्येन किं तद्विपरीतवृत्तेः प्राणैरुपक्रोशमलीमसैर्वा ॥ ५३ ॥

(घ) स नन्दिनीस्तन्यमनिन्दितात्मा सद्वत्सलो वत्सहुतावशेषम् ।
पपौ वसिष्ठेन कृताभ्यनुज्ञः शुभ्रं यशो मूर्तिमिवातितृष्णः ॥ ६९ ॥

२—सिंह-दलीपयोः संवादः सक्षेपेण लेखनीयः । (द्र० पृ० ४)

प्रश्नोत्तराणि

१—(क) श्रुतेः अर्थमिव तां=नन्दिन्यानुगामिनीं दयितां सुदक्षिणां (वन-प्रान्तात्) सः—दयालुः राजा दिलीपः, निवर्त्य=(वसिष्ठाश्रमं) परावर्त्य, सौरभेयीं=कामधेनुसुतां (नन्दिनीं), पयोधरीभूतचतुःसमुद्राम् (न पयोदधराः अपयोधराः अपयोधराः पयोधराः सम्पद्यमानाः पयोधरीभूताः, पयोधरीभूताः चत्वारः समुद्राः यस्याः सा पयोधरीभूतचतुःसमुद्रा, ताम्) = स्तनीभूतचतुःसाग-राम् । धेनुपक्षे दुग्धतिरस्कृतचतुःसागराम् । गोरूपधरां=गोरूपिणीम्, ऊर्वीम्= पृथिवीम्, इव=यथा, जुगोप=ररक्ष ॥ ३ ॥

(क) स्मृति जैसे वेदार्थ का अनुगमन करती है, उसी तरह नन्दिनी के पीछे-पीछे वन जाती हुई पत्नी सुदक्षिणा को दयालु तथा अपनी कीर्ति से विख्यात राजा दिलीप तपोवन के पास से ही लौटा कर, अपने दूध की अधिकता से चारो समुद्रों को थनों के रूप में धारण की हुई गौ के रूप में उपस्थित पृथिवी की तरह उस नन्दिनी की रक्षा करने लगे ॥ ३ ॥

(ख) वनात् प्रत्यागता—सा नन्दिनी, वत्सोत्सुकापि=वत्सोत्कण्ठितापि, स्तिमिता=निश्चला, सती=भवन्ती, (साक्षतपात्रहस्तायाः सुदक्षिणायाः), सपर्यां=पूजां, प्रत्यग्रहीत्=स्वीचकार, इति=हेतोः, तौ=सुदक्षिणा-दिलीपौ, ननन्दतुः=मुमुदतुः (यतः), भक्त्या=श्रद्धाविशेषेण, उपपन्नेषु, तद्विधानां= तत्प्रकारकाणां, महताम्, प्रसादचिह्नानि=अनुग्रहलक्षणानि, पुरःफलानि= पुरोगतानि (प्रत्यासन्नानि), हि=इति निश्चितम् ॥२२ ॥

(ख) सन्ध्या समय वन से लौटने पर—उस नन्दिनी ने अपने बछड़े को देखने के लिए उत्कण्ठित होती हुई भी सुस्थिर होकर (रुक कर) सुदक्षिणा की पूजा-प्रदक्षिणा को स्वीकार कर लिया, इससे राजा-रानी दोनों उत्फुल्ल

हो उठे, क्योंकि भक्तों पर (नन्दिनी के समान) श्रेष्ठ जनों की प्रसन्नता का लक्षण निश्चय ही अभीष्ट देने वाला होता है ॥ २२ ॥

(ग) देवानुचरस्य (सिंहस्य) वाचं निशम्य दिलीपः किमुवाचेत्याह—क्षतादिति । उदग्रः = श्रेष्ठः, क्षत्रस्य शब्दः (क्षतात् = नाशात्, त्रायते = रक्षति = इति क्षत्रः, तस्य)=क्षत्रस्य वाचकः शब्दः, क्षतात् = नाशात्, त्रायते = रक्षति, इति = हेतोः, भुवनेषु = लोकेषु, रूढः = प्रसिद्धः, किल = निश्चयेन । तद्विपरीतवृत्तेः (तस्य = क्षत्रशब्दस्य, विपरीता तद्विपरीता, तद्विपरीता वृत्तिः = व्यापारः, यस्य सः तद्विपरीतवृत्तिः तस्य) = पूर्वोक्त-क्षत्रशब्दविरुद्धव्यापारस्य । राज्येन = राजभावेन, वा = अथवा, उपक्रोशमलीमसैः (उपक्रोशेन = निन्दया, मलीमसाः = मलिनाः, उपक्रोशमलीमसाः, तैः)=निन्दामलिनैः, प्राणैः = असुभिः, किम् = किं प्रयोजनम् ? (निन्दितस्य सर्वं व्यर्थमित्यवसेयम्) ॥ ५३ ॥

(ग) महादेवानुचर उस सिंह के वचन को सुन कर दिलीप ने कहा—हे मृगेन्द्र ! श्रेष्ठ-वाचक जो 'क्षत्र' शब्द है वह (क्षतात् त्रायते इति क्षत्रः) विनाश से बचाने वाला इस अर्थ से संसार में प्रसिद्ध है । इस शब्दार्थ के विपरीत व्यापार करने वाले याने नाश से नहीं रक्षा करने वाले पुरुषार्थी राजा के राज्य अथवा निन्दा (अपकीर्ति) से मलिन हुए जीवन दोनों व्यर्थ हैं । (अत एव हे मृगेन्द्र ! इस नन्दिनी को अगर मैं नहीं बचा सका तो मेरे लिये मरजाना ही श्रेयस्कर है) ॥ ५३ ॥

(घ) प्रसन्नाननः दिलीपः नन्दिन्यनुग्रहं गुरवे निवेद्य—अनन्दितः=अगर्हितः, आत्मा = स्वभावो यस्य सः अनिन्दितात्मा, सत्सु=सज्जनेषु, वत्सलः = प्रेमवान्, वसिष्ठेन = गुरुणा, कृता = विहिता, अनुज्ञा = आज्ञा, यस्य सः = कृताभ्यनुज्ञः, सः = दिलीपः, वत्सस्य = शकृत्करेः ('शकृत्करिस्तु वत्सः स्याद्' इत्यमरः) । हुतस्य = हवनस्य, च, अवशेषम्=अवशिष्टम्, वत्सहुतावशेषं, नन्दिनीस्तन्यं = धेनुदुग्धं, शुभ्रं = श्वेतं, मूर्तम्=मूर्तिमत्, यशः = कीर्तिम्, इव = यथा, अतितृष्णः = अतिशयिता तृष्णा यस्य सः, तथोक्तः, सन्, पपौ=पीतवान् ॥ ६९ ॥

(घ) नन्दिनी से प्राप्त वरदान को गुरु वसिष्ठ से निवेदनोपरान्त—सज्जनों के प्रेमी प्रसन्नानन राजा दिलीप ने अपने कुलगुरु महर्षि वसिष्ठ की

आज्ञा पाकर जब बछड़ा दूध पी चुका और हवन भी हो चुका तब वत्स-हुतावशेष उस नन्दिनी-दुग्ध को शरीरधारी शुभ्र यश के समान अत्यन्त पिपासु होकर पी लिया ॥ ६९ ॥

२—अस्योत्तरं प्राक् ४ पृष्ठे द्रष्टव्यम् ।

रघुवंशे द्वि० सर्गे प्रश्नाः

ई० १९६४

१—निम्नलिखितेषु श्लोकेषु द्वयोः श्लोकयोः व्याख्या लेखनीया—

(क) स कीचकैर्मारुतपूर्णरन्ध्रैः कूजद्भिरापादितवंशकृत्यम् ।
शुश्राव कुञ्जेषु यशः स्वमुच्चैरुद्गीयमानं वनदेवताभिः ॥ १२ ॥

(ख) अलं महीपाल तव श्रमेण प्रयुक्तमप्यस्त्रमितो वृथा स्यात् ।
न पादपोन्मूलनशक्ति रंहः शिलोच्चये मूर्च्छति मारुतस्य ॥ ३४ ॥

(ग) तं विस्मितं धेनुरुवाच साधो ! मायां मयोद्भाव्य परीक्षितोऽसि ।
ऋषिप्रभावान्मयि नान्तकोऽपि प्रभुः प्रहर्तुं किमुतान्यहिंस्राः ॥६२॥

(घ) ततः समानीय स मानितार्थी हस्तौ स्वहस्तार्जितवीरशब्दः ।
वंशस्य कर्तारमनन्तकीर्तिं सुदक्षिणायां तनयं ययाचे ॥ ६४ ॥

प्रश्नोत्तराणि

१. (क) नन्दिन्यनुचरं तं दिलीपं विलोकयन्त्यः मृग्यः स्व-स्वनेत्रविस्तृत साफल्यं प्रापुरित्यनन्तरमाह—सः = दिलीपः (च), मारुतपूर्णरन्ध्रैः (मारुतेन पूर्णानि रन्ध्राणि येषां ते मारुतपूर्णरन्ध्राः तैः)=पवनपूरितच्छिद्रैः, (अत एव) कूजद्भिः = स्वनद्भिः कीचकैः = वंशवृक्षैः, आपादितवंशकृत्यम् (आपादितं = सम्पादितं, वंशस्य कृत्यं = कार्यं, यस्मिन् = कर्मणि, तद् यथा भवति तथा आपादितवंशकृत्यं)=सम्पादितसुषिरवाद्यकार्यम् (यथा तथा), कुञ्जेषु=निकुञ्जेषु, वनदेवताभिः=काननाधिष्ठातृदेवीभिः, उच्चैः=तार-स्वरेण, उद्गीयमानं=स्तूयमानं, स्वं=निजं, यशः=कीर्तिम्, शुश्राव= आकर्णयामास ॥ १२ ॥

(क) (वन में नन्दिनी के अनुचर राजा दिलीप को हरिणियों ने अपलक दृष्टि से देख कर अपनी बड़ी-बड़ी आँखों को सफल समझा और)—उन राजा दिलीप ने वायु से भरे हुए छिद्रों के होने पर सुमधुर शब्दों से वासुरी के ऐसा शब्द करता हुआ वासों के निकुंजों में (नन्दिनी को चराते हुए मानो) वन-देवियों से ऊँचे स्वरों में गाया जाता हुआ-सा अपने यशोगानों को सुना ॥ १२ ॥

(ख) मनुष्यवाचा विस्मापयन् सिंहः किं निजगादेत्यत आह—अलमिति। महीपाल (महीं पालयतीति महीपालः, तत्सम्बुद्धौ हे महीपाल !) = भूपते !, तव = भवतः, श्रमेण = प्रयासेन, अलं = व्यर्थं (तव साध्यं नास्ति), (कुतः ?) इतः = अस्मिन् (मयि), प्रयुक्तमपि = प्रक्षिप्तमपि, अस्त्रम् = आयुधम्, वृथा = निरर्थकं, स्यात् = भवेत्, (यतः) पादपोन्मूलनशक्ति = पादैः (मूलैः) पिबन्तीति पादपाः (वृक्षाः), पादपानाम् उन्मूलनम् (उत्पाटनं) पादपोन्मूलनम्, तेन शक्तिः यस्य तत् पादपोन्मूलनशक्ति, मारुतस्य = वायोः, रंहः = वेगः, शिलोच्चये = पर्वते, न = नहि, मूर्च्छति = वर्धते ॥ ३४ ॥

(ख) नन्दिनी पर आक्रमण किया हुआ सिंह ने कहा—हे भूपाल ! मेरे मारने का तुम्हारा सारा प्रयास व्यर्थ है—तुम बड़े शक्तिशाली हो, इसलिये क्या ? जैसे बड़े-बड़े वृक्षों को उखाड़ फेंकने वाला पवन पर्वत का कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता, उसी प्रकार तुम मुझे अडिग पर्वत ही समझो—तरकस से बाण मत निकालो ॥ ३४ ॥

(ग) 'उत्तिष्ठ वत्स !' इत्यमृतायमानं वचनं निशम्य—विस्मितं = विस्मयान्वितं, तं = दिलीपं, धेनुः = गौः, उवाच = कथयामास—साधो = हे भद्रपुरुष ! मया, मायां = छलम्, उद्भाव्य = कल्पयित्वा, (त्वं) परीक्षितोऽसि = सम्यग् दृष्टोऽसि। ऋषिप्रभावात् = मुनिवसिष्ठौजसः, मयि = नन्दिन्याम्, अन्तकोऽपि = यमोऽपि, प्रहर्तुं = ताडयितुं, न प्रभुः = न समर्थः, (अस्ति), किमुत = किं पुनः, अन्यहिंस्राः—इतरघातुकाः—सिंहादयः, ('शरारुर्घातुको हिंस्रः' इत्यमरः।) ॥६२॥

(ग) 'उत्तिष्ठ वत्स !'—नन्दिनी का इस अमृत तुल्य वचन को सुनने से—आश्चर्यचकित राजा दिलीप से मनुष्य की वाणी में नन्दिनी कहने लगी—हे साधो (तपस्विन् !) मैंने अपनी मायारूपी सिंह से तुम्हारी परीक्षा

की है। तुम नहीं जानते कि महर्षि वसिष्ठ के प्रभाव से यमराज भी मुझ पर प्रहार करने में समर्थ नहीं है, अन्य सिंहादि हिंसक की तो बात ही क्या ?॥६२॥

(घ) ततः='हे पुत्र ! प्रीतां मां कामदुघामवेहि' इति नन्दिनी-कथनोत्तरं, मानिताः (आदृताः) अर्थिनः (याचकाः) येन सः मानितार्थी, स्वहस्तेन (निजभुजबलेन) अर्जितः (प्राप्तः) वीरशब्दः येन सः दिलीपः, हस्तौ= करौ, समानीय=संयोज्य (बद्धाञ्जलिर्भूत्वा), वंशस्य=कुलस्य, कर्तारं= प्रवर्तयितारम् (अत एव रघुकुलमिति प्रसिद्धिः) अनन्तकीर्तिम् (न अन्तो यस्याः सा अनन्ता, अनन्ता कीर्तिर्यस्य सः अनन्तकीर्तिः, तम्)=स्थिरयशसं, तनयं=पुत्रम्, सुदक्षिणायां=तन्नाम्न्यां महिष्याम्, ययाचे=प्रार्थयामास ॥६४॥

(घ) 'हे पुत्र ! प्रसन्न होने पर मुझे सभी कामनाओं को पूर्ण करने वाली समझो' नन्दिनी के इस वचन को सुन कर—याचकों का सम्मान करने वाले तथा अपने भुजबल से 'वीर' उपाधि को प्राप्त करने वाले राजा दिलीप ने दोनों हाथों को जोड़ कर वंश को प्रख्यात करने वाले अनन्त कीर्तिशाली पुत्र को रानी सुदक्षिणा में (से उत्पन्न) मांगा (इसी पुत्र से सूर्यवंश का नाम रघुवंश भी पड़े गा) ॥ ६४ ॥

रघुवंशे द्वि० स र्गेप्रश्नाः

ई० १९७४

१—सन्दर्भप्रदर्शनपूर्वकं श्लोकाः व्याख्येयाः—

(क) व्रताय तेनानुचरेण धेनोर्न्यषेधि शेषोऽप्यनुयायिवर्गः ।
न चान्यतस्तस्य शरीरक्षा स्ववीर्यगुप्ता हि मनोः प्रसूतिः ॥ ४ ॥

(ख) स्थितः स्थितामुच्चलितः प्रयातां निषेदुषीमासनबन्धधीरः ।
जलाभिलाषी जलमाददानां छायेव तां भूपतिरन्वगच्छत् ॥ ६ ॥

(ग) ग्रहैस्ततः पञ्चभिरुच्चसंश्रयैरसूर्यगैः सूचितभाग्यसम्पदम् ।
असूत पुत्रं समये सचीसमा त्रिसाधनाशक्तिरिवार्थमक्षयम् ॥३,१३॥

२—अधस्तनपद्यभागेषु कस्याप्येकस्य व्याख्या विधेया । ५

(क) श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत् । (ख) आलोकमर्कादिव जीवलोकः ।
(ग) स्ववीर्यगुप्ता हि मनोः प्रसूतिः ।

३—सिंह-दिलीपसंवादः, इन्द्र-रघुसंवादो वा लिख्यताम् । (प्र० पृ० ४,६) १०

प्रश्नोत्तराणि

१—(क) गोरूपधरामुर्वीमिव नन्दिनीं जुगोपेत्यनन्तरमाह—व्रतायेति। व्रताय=नियमाय, धेनोः=नन्दियाः अनुचरेण (अनु=पश्चात्, चरति=गच्छतीत्यनुचरः, तेन अनुचरेण)=सेवकेन, तेन=राज्ञा दिलीपेन, शेषोप्यनुयायिवर्गः = अवशिष्टोऽप्यनुचरवृन्दम्, न्यषेधि = न्यवर्ति (परावर्तितः), तस्य=राज्ञः दिलीपस्य, शरीररक्षा च=गात्ररक्षणं तु, अन्यतः=अन्यस्माद् भृत्यादितः, न=नैव (भवति), हि=यतः, मनोः=वैवस्वतनामकमनोः, प्रसूतिः (प्रसूयते इति प्रसूतिः)=सन्ततिः, स्ववीर्यगुप्ता (स्वस्य वीर्यं (पराक्रमः) स्ववीर्यं, तेन गुप्ता (रक्षिता) स्ववीर्यगुप्ता)=निजपराक्रमरक्षिता (भवति) ॥ ४ ॥

(क) नन्दिनी के पीछे-पीछे चलने वाले गो-सेवाव्रती राजा दिलीप ने वन के पास पहुँचने पर रानी सुदक्षिणा को लौटाने के बाद बचे हुए अन्य अनुचरों (सिपाहियों) को भी वहीं से लौटा दिया—वन में राजा दिलीप की शरीर-रक्षा के लिये अनुचरों की आवश्यकता नहीं थी क्योंकि वैवस्वतमनु के वंशोद्भव सूर्यवंशी राजा लोग अपने ही पराक्रम से अपनी रक्षा में समर्थ होते थे ॥ ४ ॥

(ख) वने नन्दिन्याः समाराधनतत्परः, सः—भूपतिः=पृथिवीश्वरः दिलीपः, तां=नन्दिनीम्, स्थितां=निरुद्धाम्, स्थितः=निरुद्धः (सन्), प्रयातां=प्रस्थिताम्, उच्चलितः=प्रचलितः, (प्रस्थितः), निषेदुषीम्=उपविष्टाम्, (असीनाम्), आसनबन्धधीरः=(आसनस्य बन्धः आसनबन्धः, आसनबन्धे=उपवेशने, धीरः=स्थिरः, आसनबन्धधीरः), जलम्=पानीयम्, आददानाम्=(आदत्ते इति आददाना (शानच्) ताम् आददानाम्)=पिबन्तीम्, जलाभिलाषी=जलमिच्छन् (पिबन्), छाया इव=प्रतिबिम्बमिव, अन्वगच्छत्=अनुसृतवान् ॥ ६ ॥

(ख) वन में नन्दिनी को चराते समय—पृथिवीपति राजा दिलीप उस नन्दिनी के रुकने पर रुकते हुए, चलने पर चलते हुए, बैठने पर, सावधान होकर (धनुष- तानकर) बैठते हुए, जल पीने पर जल पीते हुए, (इस प्रकार) छाया की तरह उस नन्दिनी का अनुसरण करते थे अर्थात् पल भर के लिये भी नन्दिनी से विमुख नहीं होते थे ॥ ६ ॥

(ग) अस्योत्तरं तृतीयसर्गस्य प्रश्नोत्तरे पृष्ठे २१ द्रष्टव्यम्।

२—(क) श्रुतेरिति—यथा स्मृतिः = धर्मसंहिता(मन्वादिवाक्यम्) श्रुतिक्षुण्णमेवार्थमनुसरति तथा सा सुदक्षिणाऽपि नन्दिनीखुरक्षुण्णमेव मार्गमनुससारेत्यर्थः।

(ग) स्ववीर्येति—वैवस्वतनामकमनोः, प्रसूतिः = सन्ततिः, मनुवंशोद्भवाः सर्वेऽपि (रघुवंशीयाः राजानः) स्ववीर्येण = निजपराक्रमेण, गुप्ता = रक्षिता। नहि स्वनिर्वाहकस्य परापेक्षेति भावः।

३—अस्योत्तरं द्रष्टव्यं पृ० ४, ६

रघुवंशे द्वि० सर्गे प्रश्नाः

ई० १९७५

१—सन्दर्भनिर्देशपूर्वकं द्वयोः श्लोकयोः व्याख्या कार्या। १४

(क) तस्याः खुरन्यासपवित्रपांसुमपांसुलानां धुरि कीर्तनीया।
मार्गं मनुष्येश्वरधर्मपत्नी श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत् ॥ २ ॥

(ख) सञ्चारपूतानि दिगन्तराणि कृत्वा दिनान्ते निलयाय गन्तुम्।
प्रचक्रमे पल्लवरागताम्रा प्रभा पतङ्गस्य मुनेश्च धेनुः ॥ १५ ॥

(ग) दिवं मरुत्वानिव भोक्ष्यते भुवं दिगन्तविश्रान्तरथो हि तत्सुतः।
अतोऽभिलाषे प्रथमं तथाविधे मनो बबन्धान्यरसान् विलंघ्य सा ॥३,४॥

२—अनयोरेकस्य व्याख्या विधेया— ५

(क) स्ववीर्यगुप्ता हि मनोः प्रसूतिः।

(ख) प्रयुक्तसंस्कार इवाधिकं बभौ।

३—सिंह-दिलीपसंवादः लिख्यताम्। (द्र० पर्यालोचन पृ० ४) ५

प्रश्नोत्तराणि

१—(क) दिलीपः वनाय नन्दिनीं मुमोचेत्यनन्तरमाह—तस्या इति। अपांसुलानाम् (पांसवः = दोषाः, सन्ति आसाम् इति पांसुलाः, न पांसुलाः अपांसुलाः तासाम् अपांसुलानाम्) = दोषरहितानाम्, धुरि = अग्रे, कीर्तनीया = वर्णनीया, मनुष्येश्वरधर्मपत्नी (मनुष्याणाम् ईश्वरः मनुष्येश्वरः, धर्मस्य पत्नी

धर्मपत्नी, मनुष्येश्वरस्य धर्मपत्नी मनुष्येश्वरधर्मपत्नी) = नरपतिपाणिगृहीती भार्या सुदक्षिणा, खुरन्यासपवित्रपांसुं (खुराणां न्यासाः=निःक्षेपाः, खुरन्यासाः, तैः पवित्राः पांसवः = धूलयः यस्य सः खुरन्यासपवित्रपांसुः, तं खुरन्यासपवित्र-पांसुम्) = शफप्रक्षेपपूतरेणुम्, तस्याः = नन्दिन्याः, मार्गं = पन्थानम्, स्मृतिः = धर्मसंहिता (मन्वादिशास्त्रम्), श्रुतेः = वेदस्य, अर्थम् = अभिधेयम्, इव = यथा (तथा) अन्वगच्छत् = अन्वसरत् ॥ २ ॥

(क) पतिव्रताओं में श्रेष्ठ राजा दिलीप की धर्मपत्नी राज-महिषी सुदक्षिणा (राजा दिलीप के साथ वन में चरने के लिये जाती हुई) उस नन्दिनी के खुरों के रखने से पवित्र धूलि वाले मार्ग का (वनपर्यन्त) उसी प्रकार अनुगमन करती हुई जा रही थी, जैसे मन्वादि स्मृति वेद के अर्थ का अनुगमन करती है (रास्ते में नन्दिनी के पदे-पदे की धूलि को मस्तक में लगाती हुई सुदक्षिणा पीछे-पीछे जा रही थी) ॥ २ ॥

(ख) शशाम वृष्ट्याप्यनन्तरमाह—सञ्चारेति । पल्लवरागताम्रा (पल्लव-स्य = किसलयस्य, रागः पल्लवरागः, पल्लवराग इव ताम्राः (अरुणाः) पल्लवरागताम्राः) = नवपत्रवर्णारुणा, पतङ्गस्य = सूर्यस्य, प्रभा = कान्तिः, मुनेः = वसिष्ठस्य, धेनुश्च = नन्दिनी च, दिगन्तराणि (दिशाम् अन्तराणि दिगन्तराणि) = दिशामवकाशान्, सञ्चारपूतानि = सञ्चरणशुद्धानि, कृत्वा = सम्पाद्य, दिनान्ते = सायंकाले, निलयाय = अस्तमयाय, धेनुपक्षे—निलयाय = गृहाय (आश्रमाय), गुन्तुं = यातुम्, प्रचक्रमे = प्रवृत्ता ॥ १५ ॥

(ख) नवपत्र के समान लाल वर्णवाली सूर्य की प्रभा तथा उसी रंग की वसिष्ठ की नन्दिनी ये दोनों अपने-अपने गमन से दिशाओं के मध्य भाग को पवित्र करके दिनावसान में सूर्य-प्रभा अस्त होने (अस्ताचल जाने) के लिये तथा नन्दिनी अपने आश्रम में जाने के लिये तैयार हो गयीं ॥ १५ ॥

(ग) अस्योत्तरं तृतीयसर्गप्रश्नोत्तरे द्रष्टव्यम् पृ० २०

३—सिंह-दिलीपसंवाद-पृ० ४ देखें ।

तृतीयसर्गे प्रश्नोत्तराणि

प्र० (१) इन्द्ररघुसंवादः सविस्तरं लिख्यताम्। (अस्योत्तरं ६ पृष्ठे द्रष्टव्यम्)

(२) सन्दर्भनिर्देशपूर्वकं श्लोकाः संस्कृते व्याख्येयाः :—

प्र०—अथेप्सितं भर्तुरुपस्थितोदयं सखीजनोद्वीक्षणकौमुदीमुखम्।
निदानमिक्ष्वाकुकुलस्य सन्ततेः सुदक्षिणा दौहृदलक्षणं दधौ ॥ १ ॥

उ०—अथ = 'लोकपालानुभावैः सुदक्षिणा गर्भमाधत्ते' इत्यनन्तरम्, सुदक्षिणा = दिलीपत्नी, उपस्थितोदयम् (उपस्थितः, उदयः = समयः, यस्य तत् उपस्थितोदयम्) = प्राप्तकालं, भर्तुः = दिलीपस्य, ईप्सितं = मनोरथम्, सखीजनोद्वीक्षणकौमुदीमुखम् (सखीजनानाम् उद्वीक्षणानि = नेत्राणि, सखीजनोद्वीक्षणानि, तेषां कौमुदी = चन्द्रिका, सखीजनोद्वीक्षणकौमुदी, तस्याः मुखं सखीजनोद्वीक्षणकौमुदीमुखं, तत् तथोक्तम्), इक्ष्वाकु—कुलस्य = तदाख्यसूर्यवंश्यनृपतिवंशस्य, सन्ततेः = पुत्रस्य, निदानम् = आदिकारणम्, दौहृदलक्षणं (दुहृदः भावः दौहृदम्, दौहृदस्य लक्षणं दौहृदलक्षणम्) = गर्भलक्षणम्, दधौ = धृतवती ॥ १ ॥

प्र०—शरीरसादादसमग्रभूषणा मुखेन साऽलक्ष्यत लोध्रपाण्डुना।
तनुप्रकाशेन विचेयतारका प्रभातकल्पा शशिनेव शर्वरी ॥ २ ॥

उ०—सुदक्षिणा दौहृदलक्षणं दधौ, तेन—शरीरसादात् (शरीरस्य सादः = कार्श्यं, तस्मात् शरीरशादात्) = तनोः कार्श्यात्, असमग्रभूषणा (असमग्राणि = परिमितानि, भूषणानि = आभरणानि, यस्याः सा असमग्रभूषणा) = असम्पूर्णाभरणा, लोध्रपाण्डुना (लोध्रवत् पाण्डु लोध्रपाण्डु तेन लोध्रपाण्डुना) = लोध्रपुष्पेण इव पाण्डुना ('हरिणः पाण्डुरः पाण्डुः' इत्यमरः), मुखेन = आननेन, (उपलक्षिता = युक्ता), सा = सुदक्षिणा, विचेयतारका (विचेयाः = परिगणनीयाः, तारकाः = नक्षत्राणि, यस्यां सा विचेयतारका) = विरलनक्षत्रा, तनुप्रकाशेन (तनुः = स्वल्पः, प्रकाशः = कान्तिः, यस्य सः तनुप्रकाशः, तेन तनुप्रकाशेन) = अल्पकान्तिना, शशिना = चन्द्रेण, (उपलक्षिता) शर्वरिः इव = रात्रिः इव, अलक्ष्यत = अदृश्यत (जनैरिति शेषः)॥ २ ॥

प्र०–दिवं मरुत्वानिव भोक्ष्यसे भुवं दिगन्तविश्रान्तरथो हि तत्सुतः ।
अतोऽभिलाष्ये प्रथमं तथाविधे मनो बबन्धान्यरसान् विलंघ्यसा ॥ ४ ॥

उ०–दिलीपः सुदक्षिणामुखमाघ्राय तृप्ति न प्रापेत्यनन्तरमाह—दिवमिति—हि=यतः, दिगन्तविश्रान्तरथः=दिशाम् अन्ताः दिगन्ताः, तेषु विश्रान्तः=कृतविश्रामः, दिगन्तविश्रान्तः, सः रथः यस्य सः दिगन्तविश्रान्तरथः, तत्सुतः=तस्याः सुदक्षिणायाः पुत्रः, मरुत्वान्=इन्द्रः, दिवं=स्वर्गम्, इव=यथा, भुवं=महीम्, भोक्ष्यते=उपभोक्ष्यते, अतः=इति हेतोः, प्रथमम्=प्राक्, सा=सुदक्षिणा, तथाविधेः (तथा विधेव विधा (प्रकारः) यस्य सः तथाविधः, तस्मिन्=तथाविधे)=मृद्रूपे, अभिलाषे=मनोरथे, अन्यरसान्=इतरान् स्वाद्यमानरसान्, विलंघ्य=परित्यज्य, मनः=चित्तम्, बबन्ध=नियोजयामास ॥ ४ ॥

प्र०–उपेत्य सा दोहददुःखशीलतां यदेव वव्रे तदपश्यदाहृतम् ।
न ह्रीष्टमस्य त्रिदिवेऽपि भूपतेरभूदनासाद्यमधिज्यधन्वनः ॥ ६ ॥

उ०–दोहृदलक्षणे समुत्पन्ने—सा=सुदक्षिणा, दोहददुःखशीलतां (दुःखं शीलं यस्याः सा दुःखशीला, दोहदेन=गर्भिणीमनोरथेन, दुःखशीला, दोहददुःखशीला, दोहददुःखशीलायाः भावः दोहददुःखशीलता, तां दोहददुःखशीलताम्)=गुर्विणीवाञ्छाव्यथास्वभावम्, उपेत्य=प्राप्य, यद्=किंचिद् वस्तु, वव्रे=आचकांक्षे, तद्=आकांक्षितं वस्तु, आहृतम्=आनीतं (भर्त्रेति) अपश्यदेव=दृष्टवती एव, हि=यतः, अधिज्यधन्वनः (अधिज्यम्=आरोपितं, धनुः=चापं, यस्य सः अधिज्यधन्वा, तस्य अधिज्यधन्वनः)=आरोपितमौर्वीकशरासनवतः, अस्य=एतस्य, भूपतेः=भूपालस्य, त्रिदिवेऽपि=स्वर्गेऽपि, इष्टं=वाञ्छितं (वस्तु), अनासाद्यम्=अनवाप्यम्, न अभूत्=नावर्तत । नहि वीरपत्नीनाम् अलभ्यं नाम किञ्चिदस्तीति भावः ॥ ६ ॥

प्र०–निधानगर्भामिव सागराम्बरां शमीमिवाभ्यन्तरलीनपावकाम् ।
नदीमिवान्तःशलिलां सरस्वतीं नृपः ससत्त्वां महिषीममन्यत ॥ ९ ॥

उ०–आसन्नप्रसवायाः सुदक्षिणायाः शरीरशोभामुपवर्ण्य पुनः तस्याः स्वरूपमुपवर्णयति—निधानेति । नृपः=राजा दिलीपः, ससत्त्वां (सत्त्वेन=

प्राणिना, सहिता ससत्त्वा, तां ससत्त्वां)=आपन्नसत्त्वाम्, (आपन्नसत्त्वा स्याद् गुर्विण्यन्तर्वत्नी च गर्भिणी' इत्यमरः) । महिषीं=कृताभिषेकां सुदक्षिणाम्, निधानगर्भां (निधान=निधिः गर्भे=अभ्यन्तरे. यस्याः सा, तां निधानगर्भाम्)=अभ्यन्तरे निधिं दधतीम्, सागराम्बरां (सागरः=समुद्रः, एव, अम्बरं=वस्त्रं, यस्याः सा, तां सागराम्बराम्)=पृथिवीम्; इव=यथा, अभ्यन्तरलीनपावकाम् (अभ्यन्तरे=मध्ये, लीनः=निगूढः, पावकः=अग्निः, यस्याः, सा, ताम् अभ्यन्तरलीनपावकाम्)=मध्यनिगूढवह्निम्, शमीं=शिवां (वृक्षविशेषमित्यर्थः), इव=यथा, अन्तःसलिलाम् (अन्तः=मध्ये, सलिलं=जलं, यस्याः, सा, ताम् अन्तःसलिलाम्)=मध्यजलाम्, सरस्वतीं (सरः अस्ति अस्यामिति सरस्वती, तां सरस्वतीम्)=तदाख्याम्, नदीमिव=सरितमिव, अमन्यत=अमंस्त ॥ ९ ॥

प्र०—ग्रहैस्ततः पञ्चभिरुच्चसंश्रयैरसूर्यगैः सूचितभाग्यसम्पदम् ।
असूत पुत्रं समये सचीसमा त्रिसाधना शक्तिरिवार्थमक्षयम् ॥१३॥

उ०—दिलीपः प्रसवोन्मुखीं प्रियां ददर्शेत्यनन्तरमाह—ग्रहैस्तत इति । ततः=तदनन्तरं, शचीसमा=इन्द्राणीतुल्या, सुदक्षिणा, समये=दशमे मासि, उच्चसंश्रयैः=उच्चस्थानस्थितैः, असूर्यगैः (सूर्यं गच्छन्तीति सूर्यगाः तैः सूर्यगैः, न सूर्यगैः असूर्यगैः)=सूर्यसान्निध्यं परिहरद्भिः, पञ्चभिः=पञ्चसंख्यकैः, ग्रहैः=(कैश्चित्) खेटैः, सूचितभाग्यसम्पदं (सूचिता=प्रकटिता, भाग्यस्य, सम्पत्=सम्पत्तिः, यस्य सः, तं सूचितभाग्यसम्पदम्)=विज्ञापितभागधेयसम्पत्तिम्, पुत्रम्=आत्मजम्, त्रिसाधना (त्रीणि=प्रभाव-मन्त्रो-त्साहात्मकानि, साधनानि=उत्पादकानि यस्याः सा त्रिसाधना)=प्रभाव—मन्त्रोत्साहात्मकोपायत्रयोपेता, शक्तिः=उत्साहाद्यात्मिका ('शक्तयस्तिस्रः प्रभावोत्साहमन्त्रजाः' इत्यमरः), अक्षयम्=अविनाशिनम्, अर्थम्=सम्पत्, इव=यथा, असूत=सुषुवे ॥ १३ ॥

प्र०—न संयतस्तस्य बभूव रक्षितुर्विसर्जयेद् यं सुतजन्महर्षितः ।
ऋणाभिधानात् स्वयमेव केवलं तदा पितॄणां मुमुचे स बन्धनात् ॥२०॥

उ०—रघूत्पत्तिसमये मंगलतूर्यनिस्वनाः व्यजृम्भन्तेत्युक्त्वाह—न संयत इति । रक्षितुः=सम्यक्पालनशीलस्य, तस्य=दिलीपस्य, (अत एव चौराद्य-

वाभात्), संयतः=बद्धः (कारागारे). न बभूव=न (कोऽपि) आसीत् । यं=बद्धं वन्दिनम्, सुतजन्महर्षितः (सुतस्य=पुत्रस्य जन्म=उत्पत्तिः, सुतजन्म, तेन हर्षितः सुतजन्महर्षितः)=पुत्रोत्पत्तिमुदितः, (सन्, कारागारात्) विसर्जयेत्=विमोचयेत् । (किन्तु) सः=राजा दिलीपः, तदा=तस्मिन् पुत्रोत्पत्तिमहोत्सवे, पितॄणां=स्वर्गस्थपूर्वपुरुषाणाम्, ऋणाभिधानात्=उद्धाराख्यात्, बन्धनात्=संयमनात्, केवलम्=एकं यथा स्यात्तथा, स्वयं=आत्मना एव (स्वयमेव) मुमुचे=मुक्तो बभूव ॥ २० ॥

प्र०—श्रुतस्य यायादयमन्तमर्भकस्तथा परेषां युधि चेति पार्थिवः ।
अवेक्ष्य धातोर्गमनार्थमर्थविच्चकार नाम्ना रघुमात्मसम्भवम् ॥२१॥

उ०—'अशौचे तु व्यतिक्रान्ते नामकर्म विधीयते' इति शंखवचनात् द्वादशेऽहनि रघोर्नामकरणप्रसंगमाह—श्रुतस्येति । अर्थवित् (अर्थम् अभिधेयं जानातीति अर्थवित्)=शब्दार्थवेत्ता, पार्थिवः (पृथिव्याः ईश्वरः पार्थिवः)=पृथिवीपतिः दिलीपः, अयम्=एषः, अर्भकः=शिशुः, श्रुतस्य=शास्त्रस्य, अन्तं=पारं, यायात्=गच्छेत्, तथा=तेन प्रकारेण, युधि=संग्रामे, परेषां=शत्रूणाम्, (अन्तं=नाशं) च यायात्=व्रजेत्, इति=हेतोः, धातोः=लघिधातोः, गमनार्थं (गमनमेवार्थः गमनार्थः तं गमनार्थम्)=यानाभिधेयम्, अवेक्ष्य=विचार्य, आत्मसम्भवं (आत्मनः=स्वस्मात्, सम्भवः=उत्पत्तिर्यस्य सः आत्मसम्भवः, तम् आत्मसम्भवम्) = तनयम्, नाम्ना=अभिधानेन, रघुं=रघुनामानं, चकार=कृतवान् । (गुरुवसिष्ठस्यादेशादिति शेषः) ॥ २१ ॥

(रघुः—गत्यर्थक 'लघि' धातोः इदित्वान्नुमि 'लंघ' इति, तस्मात् लङ्घिवंह्योर्नलोपश्च' इति नलोपे चकारादुप्रत्यये च कृते 'बाल-मूल-लवणमङ्गुलीनां वा लो रत्वमापद्यते' इति विभाषया रेफादेशे विभक्त्यादिकार्ये 'रघुः' इति सिद्धम् ॥ २१ ॥)

प्र०—रथाङ्गनाम्नोरिव भावबन्धनं बभूव यत् प्रेम परस्पराश्रयम् ।
विभक्तमप्येकसुतेन तत् तयोः परस्परस्योपरि पर्यचीयत ॥२४॥

उ०—सुदक्षिणा-दिलीपौ सुतेन ननन्दतुरिति प्रसंगे पुनराह—रथाङ्गेति । रथाङ्गनाम्नोः (रथस्य अङ्गं रथाङ्गं=चक्रं, रथाङ्गं नाम यस्य सः रथाङ्ग-

नामा । रथाङ्गनाम्नी च रथाङ्गनामा चेति रथाङ्गनामानौ, तयोः रथाङ्गनाम्नोः)=चक्रवाकयोः, इव=यथा, तयोः=सुदक्षिणा–दिलीपयोः, भावबन्धनं (भावस्य=हृदयस्य, बन्धनम्= आकर्षणम्, भावबन्धनम्)=हृदयाकृष्टिकरम्, परस्पराश्रयं (परस्परम्=अन्योन्यम्, आश्रयः = विषयः यस्य, तत् परस्पराश्रयम्)=अन्योन्यविषयम्, यत् = लोकोत्तरं, प्रेम=प्रीतिः, बभूव=अभूत्, तत्= पूर्वोक्तं (प्रेम), एकसुतेन = केवलपुत्रेण, विभक्तमपि=कृतविभागमपि, परस्परस्य=अन्योऽन्यस्य, उपरि = विषये, पर्यचीयत = अवर्धत् ॥ २४ ॥

प्र०–अमंस्त चाऽनेन पराध्यंजन्मना स्थितेरभेत्ता स्थितिमन्तमन्वयम् ।
स्वमूर्तिभेदेन गुणाग्र्यवर्तिना पतिः प्रजानामिव सर्गमात्मनः ॥२७॥

उ०—स्थितेः = मर्यादायाः, अभेत्ता = रक्षकः दिलीपः पराध्यंजन्मना (पराध्यंम् = उत्कृष्टं, जन्म = उत्पत्तिः, यस्य सः, पराध्यंजन्मा, तेन)=उत्कृष्टजन्मना, अनेन = रघुणा, अन्वयं = वंशं, प्रजानां = जनानां, पतिः = प्रभुः, (विधाता); गुणाग्र्यवर्तिना (गुणेषु = प्राणिषु, अग्र्येण = मुख्येन (सत्त्वेन) वर्तते इति गुणाग्र्यवर्ती, तेन) = सत्त्वगुणिना, स्वमूर्तिभेदेन (स्वस्य मूर्तिः स्वमूर्तिः, तस्याः भेदः स्वमूर्तिभेदः' तेन) = आत्मशरीरविशेषेण अवतारभेदेन विष्णुनेति यावत्, आत्मनः = स्वस्य, सर्गमिव = सृष्टिमिव, स्थितिमन्तं=प्रतिष्ठावन्तम्, अमंस्त = मेने ॥ २७ ॥

प्र०–स वृत्तचूलश्चलकाकपक्षकैरमात्यपुत्रैः सवयोभिरन्वितः ।
लिपेर्यथावद् ग्रहणेन वाङ्मयं नदीमुखेनेव समुद्रमाविशत् ॥२८॥

उ०—वृत्तचूलः (वृत्ता=सम्पन्ना, चूला=चूडाकर्म यस्य सः वृत्तचूलः)= निष्पन्नचूडाकर्मा, (सन्) सः = रघुः, चलकाकपक्षकैः (चलाः = चञ्चलाः, काकपक्षकाः = शिखण्डकाः, येषां ते चलकाकपक्षकाः तैः) चञ्चलकाकपक्षकैः, सवयोभिः = स्निग्धैः ('वयस्यः स्निग्धः सवयाः' इत्यमरः) अमात्यपुत्रैः = मन्त्रिसुतैः, अन्वितः = सहितः, (सन्) लिपेः = पञ्चाशद्वर्णात्मिकायाः, यथावद् = सम्यक्तया, ग्रहणेन = बोधेन (ज्ञानेन), वाङ्मयं = शब्दजातं (शास्त्रं), दनीमुखेन (नद्याः = सरितः, मुखं = द्वारं, नदीमुखं, तेन) =

सरिद्द्वारेण (कश्चिन्मकरादिरिति शेषः) समुद्रमिव = सागरमिव, आविशत् = आविवेश, (मकरादिः समुद्रं प्रविष्टः, बालको रघुः शास्त्रं ज्ञातवान् इति भावः) ॥ २८ ॥

प्र०—धियः समग्रैः स गुणैरुदारधीः क्रमाच्चतस्रश्चतुरर्णवोपमः ।
ततार विद्याः पवनातिपातिभिर्दिशो हरिद्भिर्हरितामिवेश्वरः ॥३०॥

उ०—उदारधीः = उत्कृष्टबुद्धिः, सः = रघुः, समग्रैः = सम्पूर्णैः, धियः = बुद्धेः, गुणैः = शुश्रूषाश्रवणादिभिः, चतुरर्णवोपमाः (चत्वारः अर्णवाः-सागराः, उपमा = तुलना, यासां, ताः चतुरर्णवोपमाः) = समुद्रचतुष्टयसदृशीः, चतस्रः = चतुःसंख्याकाः, विद्याः = आन्वीक्षिक्यादयः, हरितां = दिशाम्, ईश्वरः = प्रभुः (रविः), पवनातिपातिभिः (पवनमतिक्रम्य पतितुं—शीलं येषां ते पवनातिपातिनः, तैः) = वाताधिकवेगशालिभिः, हरिद्भिः = अश्वविशेषैः ('हरित्ककुभि वर्णे च तृणवाजिविशेषयोः' इति विश्वः), दिशः इव = (चतस्रः) आशाः इव, क्रमात् = क्रमेण, ततार = उत्तीर्णवान्—चतस्रो विद्या अध्यधीतवान् ॥ ३० ॥

प्र०—त्वचं स मेध्यां परिधाय रौरवीमशिक्षताऽस्त्रं पितुरेव मन्त्रवत् ।
न केवलं तद्गुरुरेकपार्थिवः क्षितावभूदेकधनुर्धरोऽपि सः ॥३१॥

उ०—आन्वीक्षिक्यादिविद्याचतुष्टयं क्रमेण अधीत्य—

सः = तीक्ष्णधीः रघुः, मेध्यां = शुद्धां, रौरवीं = रुरुनामकमृगसम्बन्धिनीं, त्वचं = चर्म, परिधाय = परिधानं कृत्वा, मन्त्रवत् = समन्त्रकम्, अस्त्रम् = आग्नेयादिकं, पितुः एव = जनकात् दिलीपादेव, अशिक्षत = शिक्षां गृहीतवान्, तद्गुरुः = तस्य रघोः, गुरुः-जनकः, एकपार्थिवः (एकः = अद्वितीयः, पार्थिवः = पृथिवीश्वरः, एकपार्थिवः) = अद्वितीयपृथिवीश्वरः, केवलम् = एकमात्रम्, न = नहि, अभूत् = आसीत्, (किन्तु) क्षितौ = भूमण्डले, सः = दिलीपः, एकधनुर्धरः अपि = अद्वितीयचापधरोऽपि, अभूत् = आसीत् ॥ ३१ ॥

प्र०—अथाऽस्य गोदानविधेरनन्तरं विवाहदीक्षां निरवर्तयद् गुरुः ।
नरेन्द्रकन्यास्तमवाप्य तत्पतिं तमोनुदं दक्षसुता इवाबभुः ॥३२॥

उ०—अथ=पुत्रे युवत्वापन्ने सति, गुरुः=पिता दिलीपः, अस्य=रघोः, गोदानविधेः (गोदानस्य=केशान्तकर्मणः, विधिः गोदानविधिः, तस्य गोदान-विधेः)=केशान्तनामकसंस्कारविधानस्य, अनन्तरं=पश्चात्, विवाहदीक्षां (विवाहस्य दीक्षा=क्रिया, विवाहदीक्षा, ताम्)=पाणिग्रहणक्रियां (विवाह-संस्कारम्) निरवर्तयत् = निवर्तयामास (कृतवान्), (अथ) नरेन्द्र-कन्याभिः = मनुष्येश्वरकुमार्यैः, तं = रघुं, दक्षसुताः (दक्षस्य=प्रजापतेः सुताः=कन्याः दक्षसुताः)=रोहिणीप्रभृतयः, तमोनुदं (तमः=अन्धकारं नुदति=नाशयति, इति तमोनुत् (चन्द्रः), तं तमोनुदम्)=अन्धकाराप-हारकं चन्द्रम्, इव=यथा, सत्पतिं=प्रशस्तस्वामिनम्, अवाप्य=सम्प्राप्य, आपभुः=शुशुभिरे ॥ ३३ ॥

प्र०—युवा युगव्यायतबाहुरंसलः कपाटवक्षाः परिणद्धकन्धरः ।
वपुः प्रकर्षादजयद् गुरुं रघुस्तथाऽपि नीचैर्विनयाददृश्यत ॥३४॥

उ०—विवाहानन्तरं—युवा=तरुणः, युगव्यायतबाहुः (युगः=यानाङ्ग-दारुविशेषः तद्वत् व्यायतौ=दीर्घौ, बाहू=भुजौ, यस्य सः युगव्यायतबाहुः)= यानाङ्गदारुदीर्घभुजः, अंसलः=बलवान् ('बलवान् मांसलोंऽसलः' इत्यमरः), कपाटवक्षाः (कपाट इव वक्षः=उरःस्थलं यस्य सः कपाटवक्षाः)=कपाट-सदृशदीर्घभुजशाली, परिणद्धकन्धरः (परिणद्धा=विशाला, कन्धरा=ग्रीवा यस्य सः)=विशाल ग्रीवः, रघुः=दिलीपपुत्रः, वपुःप्रकर्षात्=देहाधिक्यात्, गुरुं=जनकम् अजयत्=जितवान्, तथापि, विनयात्=नम्रत्वेन, नीचैः= जनकापेक्षया अल्पकः, अदृश्यत=ददृशे, जनैरिति शेषः ॥ ३४ ॥

प्र०—ततः प्रजानां चिरमात्मना धृतां नितान्तगुर्वी लघयिष्यता धुरम् ।
निसर्गसंस्कारविनीत इत्यसौ नृपेण चक्रे युवराजशब्दभाक् ॥३५॥

उ०—ततः=रघोः युवत्वप्राप्त्यनन्तरम्, आत्मना=स्वेन, चिरं= बहुकालात्, धृतां=धारितां, नितान्तगुर्वीम् (नितान्तम्=अत्यन्तं, गुर्वी=दुर्भरा, नितान्तगुर्वी ताम्)=एकान्तलघ्वीं, प्रजानां=जनानां, धुरं=पालनभारं,

लंघमिष्यता=लघुं करिष्यता, नृपेण=राज्ञा दिलीपेन, असौ=रघुः, निसर्गसंस्कारविनीतः (निसर्गेण=स्वभावेन, संस्कारेण=शास्त्राभ्यासजन्यवासनया च, विनीतः=विनम्रः, निसर्गसंस्कारविनीतः)=स्वभावशास्त्राभ्यासजन्यवासनाविनम्रः, इति=हेतोः, युवराजशब्दभाक् (युवराजस्य शब्दं भजतीति युवराजशब्दभाक्)=युवाराजेति पदालंकृतः, चक्रे=कृतः ॥ ३५ ॥

प्र०—हरिर्यथैकः पुरुषोत्तमः स्मृतो महेश्वरस्त्र्यम्बक एव नाऽपरः ।
तथा विदुर्मां मुनयः शतक्रतुं द्वितीयगामी नहि शब्द एष नः ॥४९॥

उ०—'त्वत्पिता मम यशः उल्लंघयितुमुद्यतः' इत्युक्त्वा पुनराह देवेन्द्रः—हरिरिति । (हे राजकुमार रघु !) यथा=येन प्रकारेण, हरिः=विष्णुः, एकः=केवलः, (एक एव) पुरुषोत्तमः=पुरुषश्रेष्ठः, (महापुरुषः) स्मृतः=कथितः, (यथा च) त्र्यम्बकः=त्रिनेत्रः—शङ्करः, एव=एक एव, महेश्वरः=महादेवः (स्मृतः=कथितः) न=नहि, अपरः=अन्यः (कश्चित्पुमान्), तथा=तेन प्रकारेण, मुनयः=धर्मतत्त्ववेत्तारः (वसिष्ठादिमहर्षयः), शतक्रतुं=शताश्वमेधयज्ञकर्तारं, माम् = इन्द्रं, विदुः = वदन्ति, नः = अस्माकं, (त्रयाणां=हरिहरेन्द्राणाम्), एषः=अधुनोक्तः, शब्दः=हरि–महेश्वर–शतक्रतुवाचकः शब्दः, द्वितीयगामी (द्वितीयम्=अन्यं, गन्तुं शीलमस्येति द्वितीयगामी)=अपराभिधायी, नहि=न, भवतीति शेषः ॥ ४९ ॥

प्र०—हरेः कुमारोऽपि कुमारविक्रमः सुरद्विपास्फालनकर्कशांगुलौ ।
भुजे शचीपत्रविशेषकाङ्किते स्वनामचिह्नं निचखान सायकम् ॥५५॥

उ०—रघोः हृदये इन्द्रप्रक्षिप्तबाणे प्रवृष्टे सति—कुमारविक्रमः (कुमारस्य=कार्तिकेयस्य, विक्रमः इव विक्रमः यस्य सः)=कार्तिकेयसदृशशक्तिशाली, कुमारोऽपि = राजकुमारो रघुरपि, सुरद्विषास्फालनकर्कशाङ्गुलौ (द्वाभ्यां पिवतीति द्विपः = गजः, सुराणां द्विपः सुरद्विपः सुरद्विपानाम् आस्फालनं=ताडनं, सुरद्विपास्फालनं, तेन कर्कशाः = कठिनाः, अङ्गुलयः यस्य सः सुरद्विपास्फालनकर्कशाङ्गुलिः, तस्मिन्)=देवगजताडनकठोरकरशाखे, शचीपत्रविशेष-

काङ्क्षिते (शच्याः=इन्द्राण्याः, पत्रविशेषकाणि = पत्रतिलकानि, शचीपत्र-विशेषकाणि, तैः अङ्कितः = चिह्नितः, शचीपत्रविशेषकाङ्कितः, तस्मिन्)= इन्द्राणीपत्रतिलकचिह्निते, हरेः=इन्द्रस्य, भुजे=बाहौ, स्वनामचिह्नं (स्वस्य, नाम=अभिधेयं, स्वनाम, स्वनाम चिह्नं=लक्षणं यस्य सः स्वनामचिह्नः, तम्)= स्वनामाङ्कितं, सायकं=बाणम्, निचखान—निखातवान् ॥ ५५ ॥

प्र०—तयोरुपान्तस्थितसिद्धसैनिकं गरुत्मदाशीविषभीमदर्शनैः ।
बभूव युद्धं तुमुलं जयैषिणोरधोमुखैरूर्ध्वमुखैश्च पत्रिभिः ॥५७॥

उ०—इन्द्ररघुसंग्रामे इन्द्रस्य महाशनिध्वजच्छेदनानन्तरं—जयैषिणोः—विजयाभिलाषिणोः, तयोः—रघ्विन्द्रयोः, गरुत्मदाशीविषभीमदर्शनैः (गरुतः—पक्षाः [गरुत्पक्षच्छदा पत्त्रम्' इत्यमरः] सन्ति येषां ते गरुत्मन्तः, आशिषि—द्रंष्ट्रायां, विषं येषां ते आशीविषाः – सर्पाः ['स्त्री त्वाशी हिताशंसाऽहिदंष्ट्रयोः' इत्यमरः], गरुत्मन्तश्च ते आशीविषाः गरुत्मदाशीविषाः, भीमं—भयङ्करं, दर्शनं, येषां ते भीमदर्शनाः, गरुत्मदाशीविषाः इव भीमदर्शनाः इति गरुत्मदाशीविष-भीमदर्शनाः, तैः)—पक्षवत्सर्पसदृशभयङ्करोपलब्धिभिः, अधोमुखैः—नता-ननैः, ऊर्ध्वमुखैः—उपरि वदनैः, च—तथा, पत्रिभिः—बाणैः, उपान्तस्थित-सिद्धसैनिकैः (अन्तस्य समीपम् उपान्तम्, उपान्ते स्थिताः उपान्तस्थिताः, उपान्तस्थिताः सिद्धाः—देवयोनिविशेषाः, सैनिकाः यस्मिन् तद् उपान्तस्थित-सिद्धसैनिकम्)—समीपस्थितसिद्धाख्यदेवयोनिविशेषरघुसैन्यम्, तुमुलं—भय-ङ्करं, युद्ध, बभूव—अभूत् ॥ ५७ ॥

प्र०—अतिप्रबन्धप्रहितास्त्रवृष्टिभिस्तमाश्रयं दुष्प्रसहस्य तेजसः ।
शशाक निर्वापयितुं न वासवः स्वतश्च्युतं वह्निमिवाद्भिरम्बुदः ॥५८॥

उ०—(भयङ्करे इन्द्र-रघुसंग्रामे) वासवः—इन्द्रः, अतिप्रबन्धप्रहितास्त्र-वृष्टिभिः (अस्त्राणां वृष्टयः—वर्षणानि, अस्त्रवृष्टयः, अतिशयितः प्रबन्धः अतिप्रबन्धः, तेन प्रहिताः—प्रयुक्ताः, अतिप्रबन्धप्रहिताः, अतिप्रबन्धप्रहिताः अस्त्रवृष्टयः अतिप्रबन्धप्रहितास्त्रवृष्टयः, ताभिः)—अतिनैरन्तर्यप्रयुक्तायुध-वर्षणैः, दुष्प्रसहस्य (दुःखेन प्रसह्यते—सोढुं शक्यते इति दुष्प्रहसम् तस्य)—दुःखेनापि सोढुमनर्हस्य, तेजसः—प्रतापस्य, आश्रयं—स्थानं, तं—रघुम्, अम्बुदः—मेघः, अद्भिः—जलैः, स्वतः—स्वस्मात्, च्युतं—निर्गतं, वह्निमिव—

अग्निमिव, (विद्युतमिव), निर्वापयितुं—शान्तं कर्तुम्, न—नैव, शशाक—समर्थोऽभूत् ॥ ५८ ॥

प्र०—तथापि शस्त्रव्यवहारनिष्ठुरे विपक्षभावे चिरमस्य तस्थुषः ।
तुतोष वीर्यातिशयेन वृत्रहा पदं हि सर्वत्र गुणैर्निधीयते ॥६२॥

उ०—तथापि—इन्द्रवज्रप्रहारेऽपि, शस्त्रव्यवहारनिष्ठुरे (शस्यन्ते—हन्यन्ते एभिः इति शस्त्राणि, तेषां व्यवहारः शस्त्रव्यवहारः, तेन निष्ठुरः—क्रूरः शस्त्रव्यवहारनिष्ठुरः तस्मिन्)—आयुधव्यापारक्रूरे, विपक्षभावे—शत्रुतायां, चिरं—बहुकालं, तस्थुषः—स्थितवतः, अस्य—एतस्य रघोः, वीर्यातिशयेन—तेजसाधिक्येन, वृत्रहा—इन्द्रः, तुतोष—तुष्टिं लेभे, हि—यतः, सर्वत्र—शत्रुमित्रोदासीनेषु गुणैः—शौर्यादिभिः, पदम्—अंघ्रिः, निधीयते—स्थाप्यते ॥ ६२ ॥

प्र०—अथ स विषयव्यावृत्तात्मा यथाविधि सूनवे
नृपतिककुदं दत्त्वा यूने सितातपवारणम् ।
मुनिवनतरुच्छायां देव्या तया सह शिश्रिये
गलितवयसामिक्ष्वाकूणामिदं हि कुलव्रतम् ॥७०॥

उ०—अथ=एकोनशतसंख्याकानश्वमेधयज्ञाञ्जीवनकालान्ते, विषयव्यावृत्तात्मा (विषयेभ्यः व्यावृत्तात्मा—व्यावृत्तः—निवृत्तः, आत्मा यस्य सः)—इन्द्रियग्राह्यरूपादिविरक्तचेताः, सः—महाराजो दिलीपः, यथाविधि—विधिमनतिक्रम्य (यथाशास्त्रम्), यूने—युवकाय, सूनवे—पुत्राय (रघवे), नृपतिककुदं नृपतेः ककुदं—चिह्नं, सितातपवारणम् (आतपस्य—घर्मस्य, वारणम् आतपवारणम्, सितं—धवलम् आतपवारणं—छत्रम्, सितातपवारणं तत्)—शुक्लच्छत्रं, दत्त्वा—प्रदाय, तथा—पूर्वोक्तया, देव्या—राजमहिष्या सुदक्षिणया, सह—साकं, मुनिवनतरुच्छायां (मुनीनां वनं मुनिवनं मुनिवनस्य तरवः—वृक्षाः, मुनिवनतरवः, तेषां छाया, मुनिवनतरुच्छाया, तां तथोक्तां)=वसिष्ठाधिष्ठितवनपादपातपाभावं, शिश्रिये—सिषेवे, (वानप्रस्थाश्रममङ्गीचकारेत्यर्थः), हि—यतः, गलितवयसां—जीर्णावस्थानाम्, ईक्ष्वाकूणाम्-ईक्ष्वाकुवंशोद्भवानां महीपालानाम्, इदम्—एतत्, कुलव्रतं—वंशनियमः, अस्तीति शेषः ॥ ७० ॥

निबन्धे प्रश्नाः

ई० १९७५

अधोल्लिखितेषु कञ्चिदेकमवलंब्य संस्कृते निबन्धो लेख्यः— १०

(१) सत्संगतिः ।

(२) अस्माकं देशः ।

(३) परोपकारः ।

(४) समयस्य सदुपयोगः ।

(५) आदर्श-छात्रः ।

(६) गङ्गा नदी ।

निबन्धे प्रश्नाः

ई० १९७४

अधोल्लिखितेषु कञ्चिदेकमवलंब्य संस्कृते निबन्धो लेख्यः— १०

(७) देशभक्तिः ।

(८) विद्याधनं सर्वधनप्रधानम् ।

(९) संस्कृतमहत्त्वम् ।

(१०) छात्राणां कर्त्तव्यम् ।

(११) परोपकारः ।

(१२) हिमालयः ।

निबन्ध-प्रश्नोत्तराणि

(१) सत्संगतिः, (संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति)

कल्पद्रुमः कल्पितमेव सूते सा कामधुक् कामितमेव दोग्धि ।
चिन्तामणिः चिन्तितमेव दत्ते सतां तु सङ्गः सकलं प्रसूते ।।

सतां सज्जनानां सङ्गतिः सत्सङ्गतिः । अनुकरणधर्मा मनुष्यः । स यादृशैः संवसति तादृश एव भवति तैस्तैः अन्यदीयैर्गुणदोषैर्युक्तः । अतः सद्भिः एषणीयः संसर्गः, असद्भिश्च परिहरणीयः । सत्सङ्गतिप्रभावेण अबोधविक्लवाः नीचाः

दुष्टाः अपि साधवो भवन्ति । किं बहुना सुगन्धि-पुष्पसंसर्गात् तुच्छः कीटोऽपि देवानां शिरः अरोहति तथा जडत्वं प्राप्ता पाषाणप्रतिमाऽपि देवत्वं याति । 'काचः काञ्चनसंसर्गाद् धत्ते मारकतीं द्युतिम्' । मानवः येन प्रकारेण मानवेन सह सङ्गतिं करोति स तथैव भवति । हीनैः सह हीनतां, समैः सह समतां, विशिष्टैः सह विशिष्टतां याति । साधुसङ्गतिस्तु चन्द्रचन्दनाभ्यामपि अधिका शीतला भवति । सत्सङ्गत्या मानवस्य ज्ञानवृद्धिर्भवति साधुपुरुषैः सह उषित्वा मनुष्याः जीवनस्य गम्भीरताम् अनायासेनैव अवबुध्यन्ते । सत्सङ्गत्या मानवस्य मानोन्नतिः, पुण्ये रुचिः उदेति, पापाच्चोद्विजते मनः । सत्सङ्गत्या दुर्जनोऽपि प्रेम-सहानुभूति-दया-क्षमा-सत्य-शान्ति-त्याग-परोपकाराणां साक्षात् मूर्तिर्जायते । सत्सङ्गतिः सर्वकल्याणं कर्तुं शक्नोति, अतः विद्या-यशो-बलवृद्धये सर्वतोभावेन सत्सङ्गतिः कर्तव्येति ।

बाल्यकाले बालकस्योपरि सङ्गत्याः प्रभावः बलवत्तरो भवति । बालको यादृशैः बालकैः सह सङ्गतिं करिष्यति ध्रुवं स तादृश एव भविष्यति । सत्सङ्गत्या मानवः उन्नतिपदं लभते । सज्जनैः सह मैत्रीं कुर्वाणः कदापि नावसीदति । सत्सङ्गतिः धियः जाड्यं हरति, वाचि सत्यं सिञ्चति, पापं दूरीकरोति, कीर्तिं च दिक्षु तनोति, कुमतिं दूरीकरोति, चेतः विमलीकरोति, चिरन्तनं पापं च चुलुकीकरोति । सतां सङ्गतिः किमु न मङ्गलमातनोति । तदुक्तम्—

> जाड्यं धियो हरति सिञ्चति वाचि सत्यं,
> 　　मानोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति ।
> चेतः प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्तिं,
> 　　सत्सङ्गतिः कथय किं न करोति पुंसाम् ॥

(२) अस्माकं देशः, (भारतवर्षः)

अस्माकं देशः भारतवर्षः । आसीत् पुरा राज्ञः दुष्यन्तस्य पुत्रो भरतो नाम चक्रवर्ती राजा । तेन शासितो देशः 'भारतवर्षं' इत्यभिधानं प्राप्तः । मत्स्य-पुराणानुयायिनस्तु—भरतीति भरतः=मनुः, तस्याऽयं भारतो देशः इति वदन्ति । अस्तु तावत्, प्रकृतिदेव्या अनुगृहीतोऽस्माकं जन्मभूमिः भारतवर्षोऽस्ति ।

अत्र गङ्गा–यमुना–नर्मदा–कावेरीप्रभृतयः महानद्यः सन्ति। प्रधानः पर्वतः हिमालयः अस्य देशस्य मुकुटः अस्ति। पर्वतोऽयं भारतस्य प्रहरी अप्युच्यते, यतः मेघमण्डलादप्युन्नतानि श्रृङ्गाणि दुर्लङ्घ्यानि सन्ति। देशस्याऽस्य चरणौ रत्नाकरः प्रक्षालयति। भारतवर्षेऽस्मिन् पुराणमहाभारतादिरचयिता वेदव्यासः, रामायणप्रणेता महर्षिवाल्मीकिः, भक्तप्रवराः—प्रह्लाद-ध्रुवादयः चक्रवर्ति-नृपतयः, वराहमिहिरादयः ज्योतिर्विदः, धन्वन्तरि-सुश्रुत-जीवक-काश्यप-वाग्भटा-दयः आयुर्वेदज्ञाः, गौतम-कपिल-काणाद-गङ्गेशोपाध्यायादयः नैयायिकाः, पाणिनि-कात्यायन-पतञ्जलिप्रभृतयः वैयाकरणाः, श्रीशङ्कराचार्य–रामानुजा-चार्य–रामानन्दाचार्य–वल्लभाचार्यादयः वेदान्तशास्त्रपारङ्गताः, बुद्धदेव–महावीरादयः धर्मप्रवर्तकाः, अश्वघोष–भवभूति–माघ–कालिदासादयो महाकवयः, चाणक्यादयः राजनीतिज्ञाः, भारती–गार्गी–लीलावतीप्रमुखानि स्त्रीरत्नानि इमं देशमलञ्चक्रुः।

विश्ववन्द्यो महात्मा गान्धिः वर्तमानयुगस्य श्रेष्ठतमः महापुरुषश्चात्रैव सम्भूतः। अस्यैव महात्मनः सत्याग्रहेण परतन्त्रोऽस्माकं भारतदेशः स्वतन्त्रो यातः।

भूतलेऽस्मिन्नस्माकं देशोऽयं श्रेष्ठतमः, यतः देवाः अपि अस्माकं भारतदेशे जन्मग्रहणाय स्पृहयन्ति। उक्तं च विष्णुपुराणे—

गायन्ति देवाः किल गीतकानि धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे।
स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्॥

(३, ११) परोपकारः

अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥

किमपि प्रत्यर्पणम् अनभिलष्य परकीयहितानुसन्धानं परोपकारः। मनुष्याणां पुरुषार्थेषु धर्मकृत्यानां मध्ये परोपकारः अत्यन्तं समुत्कृष्टं कर्म अस्ति। येषु मनुष्येषु गुणोऽयं नास्ति तान् मनुष्यतनुमाधाय चरतः पशूनेव अभिधातुं ममात्मनो निर्बन्धः।

परोपकारात् प्रबलं किमपि पुण्यम् अत्र जगति नास्ति। एष मानवानां हृदये पवित्रतां सहनशीलतां दयां भक्तिं प्रमाणं च प्रादुर्भावयति। परोपकारेणैव

दरिद्र-निर्धन-निर्बलप्राणिनां प्राणरक्षा भवति। अयं परोपकारः सर्वेषां धर्माणां प्रथमो धर्मः। विद्यादानं तु परोपकारस्य श्रेष्ठतमो धर्मः। अन्यद् दत्तं वस्तु कियतः कालस्य कृते तदावश्यकतां शमयति, परं विद्या मानवानां जीवनसहचरी सती तान् सुखयति।

परोपकारः एकः दिव्यः महान् गुणोऽस्ति। संसारेऽस्मिन् नानाविधाः मानवाः दृश्यन्ते। यस्य यादृशः स्वभावः स तादृशम् आचारम् आचरति। केचित् परोपकारिणः भवन्ति, केचित् स्वार्थिनश्च। परोपकारेणैव सुप्रसन्नाः भवन्ति मानवाः। परोपकारेणैव कायः विभाति। तदुक्तम्—

श्रोत्रं श्रुतेनैव न कुण्डलेन दानेन पाणिर्न तु कङ्कणेन।
विभाति कायः करुणापराणां परोपकारैर्न तु चन्दनेन॥

न केवलं मानवेष्वेव परोपकारभावना वर्तते, देवेषु पशु-पक्षि-वृक्षादिष्वपि च विद्यते। प्रकृतिः परोपकारस्यैव शिक्षां ददाति। नद्यः स्वयमेव जलं न पिबन्ति, वृक्षाश्च स्वयमेव फलानि न खादन्ति। किन्तु तासां जलं, तेषां फलानि च परोपकाराय एव। यदुक्तम्—

स्वयं न खादन्ति फलानि वृक्षाः पिबन्ति नाम्भः स्वयमेव नद्यः।
धाराधरो वर्षति नात्महेतोः परोपकाराय सतां विभूतयः॥

पुराणादौ परोपकारस्य बहुमहत्त्वं प्रतिपादितम्। दिवङ्गतेऽपि परोपकारी यशःशरीरेण सदैव अमरत्वं प्राप्नोति। परोपकारभावनयैव नरपतिः शिविः परार्थं स्वशरीरमांसमपि छित्त्वा ददौ। रन्तिदेवः क्षुधार्तोऽपि स्वभोजनं चाण्डालाय समर्पितवान्। परोपकारस्य सर्वाङ्गीणं स्वरूपं मङ्गलमयम् अवगत्य यथाशक्ति तत्र वर्त्मनि स्थेयं विचारचतुरैः। यतः—'धन्या नरा विहितकर्मपरोपकाराः॥'

(४) समयस्य सदुपयोगः,

अस्मिन् संसारे समस्तजनाः सुखमिच्छन्ति परन्तु विरला एव सुखं प्राप्नुवन्ति। समयस्य दुरुपयोग एव जनस्य शत्रुरस्ति येन जनः अनिष्टं प्राप्नोति। उक्तं च—

आलस्यं हि मनुष्याणां शरीरस्थो महान् रिपुः।
नास्त्युद्यमसमो बन्धुर्यं कृत्वा नावसीदति॥

समयसदुपयोगेनैव जनाः सुखमधिगच्छन्ति। उद्यमेनैव निर्धना धनिनो भवन्ति। सर्वमुद्योगेनैव सिध्यति। उद्योग-बलेनैव पाण्डवा नष्टमपि राज्यमुपलब्धवन्तः। कालिदासः समयसमुद्योगमाश्रित्य महाकविः बभूव। लोकमान्य-तिलकगोखले-महात्मा गान्धि-प्रभृतिभिः देशभक्तैः उद्योगेनैव वैदेशिक-पारतन्त्र्याद् इयं मातृभूमिः विमुक्ता कृता। कार्याणि उद्यमेनैव सिध्यन्ति। लक्ष्मीः उद्योगिनं पुरुषमुपैति। अत एवोक्तम्—

उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी
दैवेन देयमिति कापुरुषा वदन्ति।
दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या,
यत्ने कृते यदि न सिध्यति कोऽत्र दोषः॥

भाग्यवादिनः कथयन्ति यत् सर्वत्र भाग्यं फलति परन्तु अनुद्यमेन ते दुःखमेव प्राप्नुवन्ति। ते न जानन्ति यत् यथा एकेन चक्रेण रथस्य गतिर्न भवेत्, तथैव समुद्यमेन विना दैवं न सिध्यति। अस्माकमधीनं पौरुषम्, फलं तु दैवाधीनम्। अत एव फलाशां परित्यज्य कर्माणि कर्तव्यानि। भगवद्गीतायां श्रीकृष्णः एतद् एव उपादिशत्—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥

यथा सुप्तस्य सिंहस्य मुखे मृगाः न प्रविशन्ति, तथैव मनोरथैरेव कार्याणि न सिध्यन्ति। ईश्वरोऽपि समुद्योगिनः साहाय्यं करोति। अतः सर्वैः समय-सदुपयोगः करणीयः।

उक्तं च—

उद्यमेन हि सिध्यन्ति कार्याणि न मनोरथैः।
न हि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः॥
उद्यमः साहसं धैर्यं बुद्धिः शक्तिः पराक्रमः।
षडेते यत्र वर्तन्ते तत्र देवः सहायकृत्॥

(५, १०) आदर्शः छात्रः, छात्राणां कर्तव्यम्,

यथा खनन् खनित्रेण नरो वार्यधिगच्छति।
तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति॥

मानवजीवने अस्मिन् गुरुतमं सौख्यं छात्रजीवने एव लभ्यते। चिन्ता-राक्षसी भीत्येव जीवनेऽस्मिन् न प्रविशति। हर्षविह्वलानां छात्राणां कूर्दमानं समूहं दृष्ट्वा कस्य चित्तं न स्पृहयते एषां जीवनाय। तथापि छात्राणां बहूनि कर्तव्यानि सन्ति। यतो हि छात्रजीवनमेव आगामिजीवनस्य मूलम्।

विद्याध्ययनं हि छात्राणां कृते मुख्यं तपोऽस्ति। तत्र च शरीरस्य, मनसः, आत्मनश्च विकासोऽप्यनिवार्य एव। एषां मध्ये एकस्याप्यविकासो न समुचितः, यतो वास्तविकं विद्याध्ययनं तु एषां विकासेनैव जायते।

जीवनेऽस्मिन् छात्राणां मनसि ये सद्भावाः अंकुरिताः भवन्ति ते एव पश्चात् पल्लविताः पुष्पिता फलिताश्च जायन्ते। छात्राः एव भाविनः नागरिकाः स्वकीयज्ञानालोकेन सदाचारेण सदुपदेशेन च राष्ट्रस्य समाजस्य च उद्धारकाः भविष्यन्ति। आदर्शछात्राः एव राष्ट्रस्य दारिद्र्यस्य अज्ञानस्य अकर्मण्यतायाश्च अपहारकाः भविष्यन्ति। छात्रैः शरीरेण बलिष्ठैः मनसा पवित्रैः बुद्ध्या दृढनिश्चयैः सर्वतोभावेन देशभक्तैश्च भाव्यम्।

इन्द्रियाणां निग्रहणं छात्रैः कर्तव्यमेव। इन्द्रियैः पराजिताः छात्राः कदापि साफल्यं नाधिगच्छन्ति। गुरुभक्तिस्तु छात्रजीवनस्य अनिवार्यमङ्गम्। तां विना न कोऽपि छात्रो विद्योपार्जनं कर्तुं क्षमः। उपार्जिताऽपि तस्य विद्या साफल्यं न लभते। मितव्ययिताऽपि छात्राणाम् अन्यद् गुरुतरं कर्तव्यमस्ति। बहवोऽभिभावकाः प्रेमाऽभिभूताः सन्ततीनामुच्चशिक्षणार्थं स्वकीयं सर्वस्वं व्ययीकर्तुं सदैव सन्नद्धाः दृश्यन्ते, परं छात्राः तेषां धनानि निरनुक्रोशतया व्ययन्ते। न ह्यन्यः गुरुतरो दुर्गुणोऽस्मात्।

स्वदेशस्य अभ्युत्थानाय, समाजोद्धाराय च आत्मानं योग्यं कर्तुम् अध्ययने स्वास्थ्यरक्षणे चरित्रनिर्माणे च महान् यत्नो विधातव्यश्छात्रैः। दुराचारिपुरुषाणां सङ्गात्, अश्लीलग्रन्थानाम् अध्ययनात्, सदाचारविरोधिनां चित्रपटादीनां दर्शनात्, अश्लीलनृत्यगीताच्च भयङ्करात् सर्पाद् विषादपि च अधिकं भेतव्यं विद्यार्थिभिः।

अनुशासन-नियन्त्रण-समयनिष्ठा-पुरुषार्थोदारता-सत्यवादिता-निर्भयता-देशभक्ति-विनोदप्रियताप्रभृतिभिः गुणैः यस्याऽन्तेवासिनः जीवनं रत्नवत् चकासितुम् अर्हतीति स एव आदर्शः छात्रः।

विद्यालयोत्सवः

सर्वसाधारणोऽयं नियमः यत् सर्वेष्वपि विद्यालयेषु प्रतिवर्षं तदीयां संस्थापनतिथिं महता संरम्भेण स्मरन्ति छात्राः। तत्रोत्सवे सर्वे छात्राः सदस्याः व्यवस्थापकाश्च अतिप्रसन्नाः दरीदृश्यन्ते। वस्तुतः विद्यालयस्येतिहासे तस्य वार्षिकोत्सवस्य छात्रजीवने अधिकं महत्त्वं वर्तते। वर्षपर्यन्तं यां योग्यतां छात्राः सम्पादयन्ति तस्याः प्रदर्शनाय ते अस्मिन् एव उत्सवे अवसरं लभन्ते। एतादृशे अवसरे छात्राणाम् अभिभावकाः अपि विद्यालयस्य गतिविधिम् अवगन्तुम् आयान्ति। अनेन उत्सवेन छात्रेषु पारस्परिक-सहयोग-प्रेम-सहानुभूतिभावनायाः विकासो भवति। अस्मिन् दिनावसाने छात्रसंघैः आयोजिता महती सभा भवति। तस्यां ते विशिष्टाऽतिथिसम्भाषणैः चरित्रनिर्माणस्य शिक्षां प्राप्नुवन्ति। उत्सवोऽयं तान् जीवनस्य लक्ष्यं प्रत्यग्रे सारयति। निर्विवादमेतत् सत्यं यद् अयमुत्सवः छात्रेषु नवीनप्रेरणास्फूर्तिं जागर्तिं च भृशं करोतीति।

अनुशासनम्

कस्याऽपि व्यवस्थितस्य नियमसमुदायस्य पालनम् 'अनुशासनम्' उच्यते। अथवा कस्यापि नियन्तृतया नियुक्तस्य वचसः अनुवर्तनम् 'अनुशासनम्'। एकममि प्रश्नम् अकृत्वा तदनुवृत्तिः साधीयसोऽनुशासनस्य स्वरूपमवधार्यम्। कापि व्यवस्थिता संस्था अनुशासनं विना न प्रचलितुं पारयति। तद्विना तस्याः गतिरतीव दुरन्ता जायते। यथा नावि प्रसार्यमाणवस्त्रप्रसारसङ्कोचरज्जवो यदि नियमपूर्वकं न चाल्येरन् मध्येसरिन्नौर्विपद्यते तथैव ते ते पुरुषा यदि दलप्रधानमक्षरशो नानुवर्तेरन् कोऽपि समुदायः सफलप्रयासो न भवेत्। अस्माकं जीवनस्य सर्वास्वपि दशासु प्रकामम् आवश्यकम् अनुसासनं नाम बाल्ये यौवने प्रौढत्वे वार्धकेऽपि वा अनुशासनमपेक्ष्यत एव। विद्यालये गृहे सार्वजनिकसंस्थासु च विना अदः कार्यं न चलति। बालको जातमात्र एव अनुशासनं शिक्षणीयः। एतेन तस्य भाविजीवनं तस्मै महत्त्वम् उपहरिष्यति।

जीवने साफल्यमानेतुम् अनुशासनम् अत्यपेक्षितं वस्तु। तेन सर्वैरपि स्वहितम् अर्थयमानैः अनुशासनेन आत्मा नियमनीयः। परमात्मा सर्वानपि भारतीयान् साध्वनुशासनयन्त्रितान् विदधात्विति।

व्यायामः

व्यायामपुष्टगात्रस्य बुद्धिस्तेजो यशो बलम् ।
प्रवर्धन्ते मनुष्यस्य तस्माद् व्यायाममाचरेत् ॥

धर्मार्थकाममोक्षरूपस्य पुरुषार्थचतुष्टयस्य सिद्धेर्निमित्तं शरीरं खलु । स्वस्थशरीरं हि अध्यवसायं कर्तुं प्रभवति । शरीरस्य नीरोगतायाः अनेकानि साधनानि सन्ति । तेषु व्यायामस्याऽपि महत्त्वपूर्णं स्थानमास्ते ।

येन कर्मणा मनुष्यस्य तनोः, तद्द्वारा बुद्धेश्च उचितौ संस्कारोच्छ्रायौ भवतः, शरीरस्य सन्धिस्थलानि चलन्ति, धमन्यः स्पन्दन्ते, रक्तं परिष्क्रियते, पाकक्रिया व्यवस्थाप्यते, सम्भवतां रोगाणाम् आक्रमणं प्रतिबध्यते च तत् कर्म व्यायाम इति । मानवानां शरीरेण समं बुद्धेरतिघनिष्ठः सम्बन्धो वर्तते । शिक्षा यथा मनुष्याणां ज्ञानं परिमार्जयति तथैव व्यायामः तनुं समेधयति । एवं हि मानवानामिदं कर्तव्यं वर्तते यत्ते यथारुचि यथाविधि च कमपि व्यायामम् उपसेवेरन् । शरीरस्य अरोगितायै विकाशाय च व्यायामः प्रतिदिनं नियमतः कर्तव्यः । व्यायामेन शरीरे उत्साहस्य, चित्ते प्रसादस्य, प्राणेषु च जीवनस्य सञ्चारो भवति । अतः सर्वथा स्वास्थ्यं कामयमानैः 'धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्' इति च स्मरद्भिः सदा सेवनीयो व्यायाम इति ।

(७) देशभक्तिः,

यस्मिन् देशे यस्य जन्म तं देशं प्रति तदीया भक्तिः देश-भक्तिः । यो मानवः यत्र जन्म लभते सैव तस्य जन्मभूमिः कथ्यते । अस्मिन् जगति सर्वेषां बहुमूल्यवस्तूनां मध्ये माता मातृभूमिश्चैव एते द्वे श्रेष्ठे । असारे खलु संसारे सर्वे अलभ्याः अपि पदार्थाः परिश्रमेण लब्धुं पार्यन्ते, किन्तु माता पिता जन्मभूमिश्च न केनापि यत्नेन प्राप्यते । तदुक्तं =

जननी जन्मभूमिश्च जाह्नवी च जनार्दनः ।
जनकः पञ्चमश्चैव जकाराः पञ्च दुर्लभाः ॥

जननीवत् जन्मभूमिरपि प्राणेभ्योऽपि स्नेहतमा तथा स्वर्गादपि गरीयसी । मनुष्याणां मनसि जाते देशभक्तिप्रवेशे तदीयं जीवनमेव स्वदेशस्य कृते भवति, ते तत आरभ्य तदीयां स्थितिम् उन्नेतुम् एव प्रयतन्ते । सत्याम् आवश्यकतायां ते प्राणानपि पणीकर्तुं कृतसङ्कल्पास्तिष्ठन्ति । आजाद-चन्द्रशेखर-भगतसिंह-

नेताजी-सुभाषचन्द्रवसुप्रभृतयोऽनेके वीरपुरुषाः स्वदेशार्थमेव स्वप्राणान् त्यक्तवन्तः । अस्यां च देशभक्तौ सम्पत्तेरावश्यकता नापतति, येन धनिमात्रविधेयता स्यात् । सर्वास्वप्यवस्थासु सर्वैरपि मनुष्यैः आत्मरुच्या स्वनिर्णीतक्रममनुसृत्य विधातुं शक्येयं देशभक्तिः । तदीया मात्रा लघ्वी बृहती वा भवतु । देशभक्तौ भूमिकाभूतायाः स्वदेशवस्तुषु प्रीतेः पालनमात्रेऽपि विधीयमाने कियत्या मात्रया देशभक्तिः कृता भवतीति ततोऽधिकां सेवां कुर्वन्तो भृशं देशभक्ताः कथयितुं शक्याः ।

अस्य देशभक्तिवह्नेर्ज्वाला यस्य हृदये कृतास्पदा तस्य कार्यान्तरेभ्यो विरक्तिर्जायते । जीवनसाधनमात्रम् अर्थयमानस्य तस्य जातायामपि कार्यान्तरप्रवृत्तौ तदर्थतामात्रम् अवगन्तव्यम् । अस्मिन् विषये महात्मागांधी-राजेन्द्रबाबू-जवाहरलालनेहरूप्रभृतयो देशभक्ताः प्रसिद्धा एव । धन्याश्च इमे देशभक्ताः कल्पद्रुमाः येषां घनासु च्छायास्वद्य अस्माकं स्वतन्त्रो देशः सुखशान्तिम् अधिगच्छतीति ।

(६) संस्कृतमहत्त्वम्,

'संस्कृतं नाम दैवी वागन्वाख्याता महर्षिभिः' (काव्यादर्श)

अमृतं मधुरं सम्यक् संस्कृतं हि ततोऽधिकम् ।
देवभोग्यमिदं यस्माद् देवभाषेति कथ्यते ॥ (सं० प्र०)

सुरभारत्याः साहित्यस्य प्राचीनतमत्वे, सर्वभाषासाहित्यानां दैशिकानां वैदेशिकानां च मूलभूतत्वे अत्यन्तमुपादेयत्वे च नास्ति लेशतोऽपि सन्देहः भाषातत्त्वविदां विद्वन्मूर्धन्यानाम् । माधुर्ये गाम्भीर्ये सौन्दर्येऽपि अन्यासां सर्वासां भाषाणां मूर्धन्यैव इयं सुरभारती । सर्वासां गिरामियं जननी इति हेतोः कस्यामपि भाषायां प्रावीण्यम् आसादयितुम् अस्याः अध्ययनस्य परमावश्यकत्वं प्रतिक्षणम् अनुभवन्ति भाषातत्त्वविदः । संस्कृतभाषा भारतीयानाम् अनुपममक्षयं पैतृकं धनम् । यावद् एतद् धनं भारतमधिकरोति न जगति कोऽपि देशस्तावद् देशमिमं ज्ञानेऽधरीकर्तुं प्रभविष्णुः ।

संस्कृतभाषायाः इदं गुरुतरं वैशिष्ट्यमस्ति यद् अस्यामेकस्य शब्दस्य अनेके समर्थाः सन्ति । अस्याः व्याकरणमपि अनुपमम् । एतच्च प्रमाणयति यत् परस्सहस्रवर्षेभ्यः प्रागपीयं भाषा चरमां समृद्धिम् अभजत । चत्वारो

वेदाः उपवेदाः ब्राह्मणग्रन्थाः आरण्यकग्रन्थाः उपनिषत्पुराणेतिहासधर्मशास्त्रादयश्च सर्वे संस्कृते एव संगृहीताः सन्ति। तेषां परिज्ञानार्थं संस्कृतस्य स्वाध्यायः अत्यन्तम् आवश्यकः। विदेशेष्वपि संस्कृतस्य महान् प्रचारः पुरा आसीत्। अधुनाऽपि अमेरिका-रूस-जर्मनप्रभृतिषु देशेषु संस्कृतभाषाग्रन्थाः अनूद्यन्ते प्रचार्यन्ते अभिनीयन्ते सम्मान्यन्ते च। अतः भारतवर्षस्य विश्वस्य च अखिलप्राणिनां कल्याणाय तापत्रयशमनाय च संस्कृतसाहित्यस्य संरक्षणे प्रचारे च सर्वैरेव भारतीयैः महान् प्रयत्नो विधातव्यः।

(८) विद्याधनं सर्वधनप्रधानम्

इह जगति विद्यैव सर्वप्रधानं रत्नमस्ति। विद्या माता इव रक्षति, पिता इव हिते नियुङ्क्ते, कान्ता इव खेदमपनीय अभिरमयति। किं बहुना, विद्या कल्पलता इव सर्वकार्यसाधिका अस्ति। मनुष्याणां हृदये अन्धतमसावृते बहुविधाः नानाविषयाश्च शक्तयः तिष्ठन्ति। ताः न स्वतः प्रकाशन्ते। शिक्षया दूरीकृते तस्मिन् तमसि तेजोऽवरोधिनि, तास्ताः शक्तयः प्रकाशमासाद्य पुमांसं प्रतिष्ठाम् आनयन्ति। तेनैव च प्रकाशेन मनुष्याणां शीलं शुद्धयति, स्वभावो विवेकभाग् भवति, चरित्रं चारुताम् अञ्चति, वार्तालापः परिपक्वप्रबोधो भवति। विद्या एव सर्वधनानां मूलम्, अनेकसंशयोच्छेदिका, परोक्षार्थस्य दर्शिका चाऽस्ति। विद्या नरस्य समुन्नतिपथं विशदीकरोति, बुद्धिं प्रखरीकरोति, कर्तव्यपालनपरां धियम् आदधाति। अत एव इह लोके विद्या सर्वश्रेष्ठं धनम् अस्ति। सुखस्य परमं कारणं विद्यैव। विद्यया यावज्जीवनं तृप्तिर्भवति। विद्या विनयं ददाति, विनयात् पात्रतां याति, पात्रत्वाद् धनमाप्नोति, धनात् धर्मं ततः सुखम् एति। इत्यलमतिविस्तरेण, 'विद्याधनं सर्वधनप्रधानम्'। तदुक्तम्—

न चौरहार्यं न च राजहार्यं न भ्रातृभाज्यं न च भारकारि।
व्यये कृते वर्धत एव नित्यं विद्याधनं सर्वधनप्रधानम्॥

अपि च—

मातेव रक्षति पितेव हिते नियुङ्क्ते
कान्तेव चाऽभिरमयत्यपनीय खेदम्।
लक्ष्मीं तनोति वितनोति च दिक्षु कीर्तिं,
किं किं न साधयति कल्पलतेव विद्या॥

विद्यालयः

नागराद् बहिः एकान्ते सुरम्ये स्थले विद्यालयस्य भवनानि दर्शकानां चेतांसि हरन्ति । विद्यालयः देशस्य सर्वस्वम् अस्ति । अत्र पुस्तकानाम् एव पठनं पाठनं च न भवति, अपि तु सदाचारस्य पाठोऽपि पठ्यन्ते छात्रैः । विनयस्याऽनुशासनस्य च प्राथमिकं शिक्षणम् अत्रैव भवति । समाजसेवायाः देशभक्तेश्चात्र शिक्षां छात्राः गृह्णन्ति ।

महाविद्यालये अध्यापकानां संख्या षष्टिः तथा छात्राणां संख्या शतादधिकं भवति । महाविद्यालयस्य अध्यापकाः विविधविद्यापारङ्गताः शिक्षणकलानिपुणाः भवन्ति । महाविद्यालये अन्यप्रान्तेभ्योऽपि छात्राः अध्ययनार्थं समागच्छन्ति । क्रीडने, धावने, तरणे, अनुशासने, संयमे, समाजसेवायाम्, देशसेवायाम्, प्रतियोगितापरीक्षासु, भाषणप्रतियोगितासु च ये छात्राः प्रथमं स्थानं लभन्ते ते वार्षिकोत्सवावसरे पुरस्कृताः भवन्ति । विद्यालयस्य अनुशासनपालकाः छात्राः हृष्ट-पुष्टशरीराः, विकसितवदनाः, भद्रवेषाश्च भवन्ति ।

महाविद्यालयस्य एकदेशे, तदन्तिके; ग्रामे ग्रामे, नगरखण्डे वा एका पाठशाला 'बेसिकस्कूल' नामकं शिशुसदनं वा शिक्षाधिकारिणा संस्थाप्यते । ग्राम्यपाठशालायाः लाभः प्रचुरप्रचारको भवति । अत्र शिशुभिः प्रारम्भिकी शिक्षा निःशुल्कं लभ्यते । यः व्ययसाध्यां शिक्षाम् अधिगन्तुम् अनीशः तस्याऽपि साक्षरताऽत्र जायते । प्रत्येकशिशोः गुणावगुणौ ज्ञात्वा अध्यापकः तस्य गुणानां समृद्धये दोषाणाम् अपचयाय च प्रयतते । एषा पाठशाला सारल्येन जीवननिर्वाहं मितव्ययशीलतां च शिक्षयित्वा शिशुं भाविजीवनयात्रायां प्रशस्तयति ।

आसु ग्राम्यपाठशालासु पठनं लिखनं प्रारम्भिकगणितं च अध्यापकेन शिक्ष्यते सम्प्रति ग्राम्यपाठशालानां ह्रासस्य समयः समुपस्थितः । नवीनयुगस्य नीतिरीती अनुसृत्य चालिताः एव बेसिकपाठशालाः सर्वत्र स्थाप्यन्ते । प्राचीनग्रामपाठशाला यत्र विद्यतेऽपि तस्याः अवस्था शोचनीयैव । तदीयान् दोषान् दूरीकर्तुं प्रयस्य यदि पुनः प्रतिग्रामं प्रतिपल्लि च तासां प्रतिष्ठापनं क्रियते तदा महान् उपकारः कृतो भवति भारतवर्षस्येति ।

(१२) हिमालयः,

भारतवर्षस्योत्तरस्यां दिशि उच्चतमः पर्वतः हिमालयोऽस्ति । अस्य शिखरप्रदेशाः सदा हिमेनाच्छादिताः । अस्मात् कारणात् अयं 'हिमस्य आलयः

हिमालयः' इति कथ्यते । अयं सर्वेषां पर्वतानामुच्चतमः, अत एव नगाधिराजः अपि कथ्यते । प्रजापतिः यज्ञांगयोनित्वमवेक्ष्य कल्पितयज्ञभागं तं शैलाधिपत्यं स्वयमन्वतिष्ठत् । हिमालयस्य लांगूलविक्षेपविसर्पिशोभैः चन्द्रमरीचिगौरैः बालव्यजनैः चमर्यः गिरिराजशब्दमर्थयुक्तं कुर्वन्ति । अनन्तरत्नप्रभवस्य हिमालयस्य हिमं सौभाग्यविलोपि न जातम् । यतः एको दोषो गुणसन्निपाते निमज्जति यथा इन्दोः किरणेषु अङ्कः निमज्जति । अस्य हिमालयस्य आमेखलं सञ्चरतां घनानां छायामधः वृष्टिभिः उद्वेजिता ऋषयः आश्रयन्ते । तत्र स्थिताः वन्यकरिणः कपोलकण्डूः विनेतुं सरलवृक्षेषु कपोलस्थलानि घर्षन्ति, तदा वृक्षेभ्यः क्षरितेन क्षीरेण संजातः गन्धः हिमाद्रेः सानूनि सुरभीकरोति । हिमालयस्य गह्वराणि दिवाभीतमिवान्धकारं दिवाकराद्रक्षति । यस्मिन् दृष्ट्वापि हतद्विपानाम् केसरिणां तुषारस्रुतिधौतरक्तं पदं नखरन्ध्रमुक्तैः मुक्ताफलैः किराताः मार्गं विदन्ति ।

अयं पर्वतः भारतवर्षस्य मुकुटः अस्ति । अयं भारतवर्षस्य प्रहरी अप्युच्यते । यतः अस्य मेघमण्डलादप्युन्नतानि शृङ्गाणि दुर्लङ्घ्यानि सन्ति । सर्वेषां तुङ्गतमम् एवरेष्टाख्यमस्य शृङ्गम् । हिमालयः भारतवर्षस्य परोपकारी अस्ति । अथ गङ्गायाः, सिन्धोः, ब्रह्मपुत्रस्य, अन्यासाञ्च बहूनां नदीनां प्रभवस्थानम् । संसारविमुखानां अस्य गुहाः आश्रयस्थानानि । हिमालये बहूनि रत्नानि विद्यन्ते । तस्मिन् नानाविधाः ओषधयोऽपि सम्भवन्ति । अयमेव नगः भारतवर्षस्य उत्तरप्रदेशेषु वर्षायाः हेतुरस्ति । अयमेव गिरिः शत्रुभ्यः अस्माकं देशं रक्षति यतः अस्यातिक्रमणमतिदुष्करम् । नैनीताल–मंसूरी–अल्मोडा–शिमलादीनि नगराणि अस्योपत्यकायाम् विराजन्ते । ग्रीष्मर्तौ धनिकाः स्वास्थ्यलाभाय तत्र गच्छन्ति, आनन्दातिरेकेण इतस्ततः परिभ्रमन्ति च ।

स्त्री-शिक्षा

मानवजातेः चतुरस्रसमुन्नतौ पुरुषाणां स्त्रीणां च परस्परं बुद्धिपूर्वकस्य सहयोगस्य अपरिहार्यत्वेन आवश्यकता केन नाऽनुभूयते । यथा एकेन चक्रेण रथस्य गतिर्न भवति तथैव स्त्रीणां सहयोगेन विना स्वसमुन्नतिः साधयितुं न शक्यते पुरुषैः ।

'सत्यां शिक्षायां स्त्रियो नश्यन्ति' इति यदुक्तं तन्न मनोरमम्, सत्यं दुःशिक्षया तथा भवति, परं भारतीयां संस्कृतिमनुसृत्य तासां शिक्षा तु तासां पातिव्रत्ये निष्ठां प्रेमपरायणतां दासीपदगौरवं च समेधयति ।

'शिक्षिताः स्त्रियः पुरुषैः स्पर्धेरन्' इत्यपि अलीकमेव वचः। शिक्षया जनितविवेकानां तासां कर्तव्यज्ञानोदये जाते स्पर्धाबुद्धिस्तु प्रथममेव नश्यति, तदनु प्राचीनमादर्शं पुरतः कृत्वा प्रदीयमानया शिक्षया मनसः साधुपथे प्रवृत्तिः सम्पाद्यते, तथा च स्पर्धायाः कथैव नोदयते।

स्त्रियो हि गृहाधिष्ठात्र्यो मन्यन्ते। जगति यावन्तः अभ्युदयभाजो दृश्यन्ते जनास्तेषां देव्योऽवश्यं प्रबन्धचतुराः स्युः। अन्यथा बहु अर्जयन्तोऽपि पुरुषाः स्त्रीभिः वृथाव्ययविनियुक्तसाधनाः सन्तः अत्यर्थम् उद्विजेयुः क्लेशं च सहेरन्।

बालिकाः शिक्षिताः स्युः इत्यपि गृहस्थानां कर्तव्येषु प्रधानं कर्तव्यम्। एतच्च कार्यं यथा दयाद्रुतचित्ताभिः स्त्रीभिः साधु सम्पाद्येत न तथा पुरुषैः। अशिक्षिताश्च मातरः न कथमपि तदनुष्ठाने प्रभवेयुः। अतः विना द्रव्यव्ययं सन्ततीनां जीवनं शिक्षया साधु समुत्कर्षयितुम् अपि स्त्रीणां शिक्षणम् आवश्यकम्।

किं बहुना, अद्यत्वेऽपि प्रभावतीराजे-क्षमाराव-विजयालक्ष्मी-इन्दिरागान्धी-प्रभृतयः भारतालङ्कारभूताः सर्वजनसम्मानमासादयन्ति शिक्षाप्रभावेणैवेति। स्त्रीणां शिक्षया हि कुलमुज्ज्वलं श्रीसमृद्धिश्च समुदयते।

रघुवंशी राजाओं के वंशानुक्रम

अयोध्याधिपति रघुवंशी महाराज दशरथ के पुत्र–राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न के प्रसङ्ग में सभी सम्प्रदायों, पुराणों तथा इतिहासकारों का एक मत है। किन्तु अन्यान्य रघुवंशी राजाओं के वंशानुक्रम के प्रसंग में पुराणों में मतैक्य नहीं है।

महाकवि कालिदास ने अपने रघुवंश महाकाव्य में प्रायः पद्मपुराणोक्त रघुवंशानुक्रम का ही उल्लेख किया है और महाकवि वाल्मीकि ने अपने रामायण में किसी दूसरे ग्रन्थ के आधार पर या कल्पभेद (१) से रघुवंशानुक्रम का उल्लेख भिन्न रूप में किया है। इनके मत से राजकुमार रघु का जनक सूर्यवंशी महाराज ककुत्स्थ और महाराज भागीरथ का जनक महाराज दिलीप कहे जाते हैं।

काशी के स्वनामधन्य भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने भी अपने रचित "हरिश्चन्द्र नाटक" में प्रायः कालिदास की तरह पद्मपुराण के आधार पर ही रघुवंशानुक्रम को मान कर सत्यप्रतिज्ञ महाराज हरिश्चन्द्र के मुख से भागीरथी (गंगा) का वर्णन करवाया है।

महर्षि वाल्मीकि के मतानुयायी विद्वानों की अमिट धारणा है कि महाराज हरिश्चन्द्र रघुवंशी महातपस्वी राजा भगीरथ के पहले के हैं, अतः हरिश्चन्द्र नाटक में गंगा के प्रति भागीरथी शब्दोपादान भारतेन्दु का प्रमाद है।

अस्तु, महाराज दिलीप से लेकर (अग्रिम पृष्ठोक्त) रघुवंशानुक्रम देखने से उपर्युक्त प्रमाद दूर हो जाता है। (पद्मपुराणोक्त वंशानुक्रम में राजा भगीरथ राजा हरिश्चन्द्र के बहुत पहले के हैं)।

---

(१) द्र० वा० रामायण, आदि काण्ड अध्याय ७०, श्लोक १९-४३।

कल्पभेद से कलियुग का २८वाँ कल्प अभी बीत रहा है ('अष्टाविंशतितमे कलिप्रथमचरणे')। इसी तरह सत्ययुग, त्रेता तथा द्वापर के भी कई कल्प बीत चुके हैं। प्रत्येक त्रेता कल्प में श्रीरामवंश का प्रादुर्भाव हुआ है। प्रायः इसी कल्पभेद से सूर्यवंशानुक्रम में व्यासोक्त व्यतिक्रम देखने-सुनने को मिलता है।

राजा दिलीप से

वा० रामायणोक्त रघुवंशानुक्रम	रघुवंशमहाकाव्योक्त रघुवंशानुक्रम	
राजा दिलीप	राजा दिलीप	
,, भगीरथ	,, रघु	
,, ककुत्स्थ	,, अज	
,, रघु	,, दशरथ	
,, कल्माषपाद	,, राम	
,, शङ्खण	,, कुश	
,, सुदर्शन	,, अतिथि	
,, अग्निवर्ण	,, निषध	* राजा शङ्खण
,, शीघ्रग	,, नल	,, व्युषिताश्व
,, मरु	,, नभस्	,, विश्वसह
,, प्रशुश्रुक	,, पुण्डरीक	,, हिरण्यनाभ
,, अम्बरीष	,, क्षेमधन्वन्	,, कौशल्य
,, नहुष	,, देवानीक	,, ब्रह्मिष्ठ
,, ययाति	,, अहीनगु	,, पुत्र
,, नाभाग	,, पारियात्र	,, पुष्य
,, अज	,, शिल	,, ध्रुवसन्धि
,, दशरथ	,, उन्नाभ	,, सुदर्शन
,, राम	,, वज्रनाभ*	,, अग्निवर्ण

बौद्धमत-विवेचन

'दशरथ जातक' नामक बौद्ध-ग्रन्थ में सीता-राम के विवाह को भाई-बहन का विवाह कहा गया है। भगवती सीता भूमिजा थी, उनके गोत्र या जात का विवेचन-प्रश्न ही दूसरा है। रहा ऊर्मिला और लक्ष्मणादि का विवाह प्रसंग। इसका निवारण शंका निम्नलिखित उपाख्यान से हो जाता है।

(द्र० श्रीमद्भागवत्, स्कन्ध ९, अ० १३)

एक समय प्रथम तिरहुत-नरेश राजर्षि निमि ने अपने तिरहुत राज्य में एक महायज्ञ का आयोजन किया। राजगुरु महर्षि गौतम ने महाराज निमि को इस यज्ञ में अपने सूर्यवंशी कुल-गुरु वशिष्ठ को ऋत्विक् बनाने का परामर्श दिया। तदनुकूल ऋत्विक् का भार ब्रह्मर्षि वशिष्ठ को सौंपा गया।

देव-राज इन्द्र अभूतपूर्व इस महायज्ञ के नाम से त्रस्त हो उठे। उन्हें भय हो गया कि कहीं इस यज्ञ के माध्यम से राजर्षि निमि इन्द्रलोक पर भी अपना आधिपत्य जमाने का स्वांग तो नहीं रच रहा है। अतः उन्होंने स्वर्ग में भी निमि के यज्ञ के समकालीन विशेष यज्ञ का आयोजन कर उसमें अत्यधिक आर्थिक प्रलोभन देकर सूर्यकुल गुरु वशिष्ठजी को ऋत्विक् बना लिया।

तिरहुत नरेश सूर्यवंशी राजर्षि निमि को वशिष्ठ की यह अर्थ-लोलुपता नहीं जँची। उन्होंने नियत समय तक उनकी प्रतीक्षा के बाद अपने तिरहुत के राज-गुरु गौतम को ही ऋत्विक् बनाकर यज्ञ प्रारम्भ कर दिया। देव-राज इन्द्र इसी ताक में सजग थे, उन्होंने वशिष्ठ को खूब उभाड़ कर यज्ञ के अवसान में निमि के पास भेज दिया। सूर्यवंशी कुलगुरु के आसन पर महर्षि गौतम को बैठे देखते ही वशिष्ठजी का क्रोधानल भभक उठा, उन्होंने तुरत निमि को मर जाने का महाशाप दे दिया। फिर क्या था? "दोषा वाच्या गुरोरपि" राजर्षि निमि ने भी गुरु वशिष्ठ को शाप दे दिया—"अर्थलोलुपता प्रयुक्त वचन-विमुख आपका भी यह पार्थिव शरीर तुरन्त नष्ट हो जाय।"

इस शापोपशाप से उभय महर्षि के पांचभौतिक पार्थिव-शरीर से प्राण निकल गये। ब्रह्मर्षि वसिष्ठ तो मित्रावरुण के सम्भोग द्वारा उर्वशी के गर्भ से

पुनर्जन्म को प्राप्त हुए, किन्तु राजर्षि निमि के बारे में तिरहुत के समस्त मुनिगण यज्ञोपस्थित देवगण से प्रार्थना करने लगे—"हे देवगण, यदि इस यज्ञ से आप सन्तुष्ट हैं तो वरदान दीजिए, तपःपूत तिरहुत के एकमात्र रक्षक राजर्षि महाराज निमि जीवित हो उठें।"

देवगण के "तथाऽस्तु" कहने पर राजर्षि निमि उठ-बैठे और आश्चर्यचकित होते हुए करबद्ध होकर प्रार्थना करने लगे—"हे देवगण, आत्मज्ञानी मुनिजन शरीर त्यागोपरान्त भगवच्चरणारविन्द में लीन हो जाते हैं। किसी प्रलोभनवश पुनर्जन्म लेना नहीं चाहते। मैं भी पुनः शरीरधारी होना नहीं चाहता। दुःख, शोक, भय आदि प्राप्त करने वाला इस अनित्य शरीर को पुनः प्राप्त करने की मेरी इच्छा नहीं है।

राजर्षि निमि की सदसद्विवेकिनी उक्ति सुनकर देवगण प्रफुल्लित हो उठे और कहने लगे—"हे मुनिवर, आप इस पार्थिव शरीर से पृथक् होकर अनादि काल तक प्राणीमात्र के निमेष (पलक) पर निवास करेंगे और आपके इस पार्थिव शरीर के मथन से जो दिव्य बालक उत्पन्न होगा, वही आपके इस तिरहुत राज्य का राजा बनेगा। उभयथा आप का मनोरथ सिद्ध है।"

देवगण के ऐसा कहने पर उस यज्ञ में शास्त्रोक्त विधि से राजर्षि निमि का शरीर मथन किया गया और उससे एक दिव्य बालक उत्पन्न हुआ। बालक ने स्वयं जन्म लिया अतः 'जनक' (जनी, प्रादुर्भावे), विगत देह (मथित शरीर) से प्रकट हुआ अतः 'विदेह' तथा मथन से उत्पन्न हुआ अतः 'मिथिल' नाम से लोक में प्रसिद्ध हुआ।

शिशु मिथिल के पालन-पोषण, शिक्षा-दीक्षा आदि का सारा भार न्याय वैशेषिक के स्रष्टा अहिल्यापति महर्षि गौतम को सौंपा गया। देवगण के आशीर्वाद से स्वयं प्रसूत वह मिथिल कुछ ही दिनों में स्वच्छ नील गगन में उत्फुल सुधाकर की भांति चमक उठा। मुनिगण ने बड़े ही उत्साह के साथ शुभ मुहूर्त में उनका राज्याभिषेक किया।

राज्याभिषेकोपरान्त तिरहुत-नरेश महाराज मिथिल ने अपने नाम पर 'मिथिला' नामक नगर बसाया और उसी दिन से महाराज जनक 'मिथिलेश' विरुदावलि से भी विभूषित हो गये।

स्मरण रहे नवजात मिथिल महर्षि गौतम से ही पालित तथा शिक्षित-दीक्षित हुए अतः उनका गोत्र गुरु के नाम पर ही गौतम गोत्र हो गया और यहीं से सूर्यवंशी इक्ष्वाकुवंश की विगोत्र दो शाखायें पृथक्-पृथक् हो गयीं—एक अयोध्याधिपति ककुत्स्थवंशी वसिष्ठ-गोत्र और दूसरा गौतमगोत्री मिथिलाधिपति मिथिलवंश। इसी विगोत्र होने के कारण सैकड़ों पीढ़ी के बाद श्री राम-सीता, लक्ष्मण-ऊर्मिला आदि के विवाह-काल में समान गोत्र-प्रवर का दोष नहीं उठा।

द्वितीयसर्गस्य-सुभाषितानि

	श्लो०
१. स्ववीर्यगुप्ता हि मनोः प्रसूतिः।	४
२. भक्त्योपपन्नेषु हि तद्विधानां प्रसादचिह्नानि पुरःफलानि।	२२
३. न पादपोन्मुलनशक्तिरंहः शिलोच्चये मूर्च्छति मारुतस्य।	३४
४. शस्त्रेण रक्ष्यं यदशक्यरक्षं न तद् यशः शस्त्रभृतां क्षिणोति।	४०
५. स्थातुं नियोक्तुर्नहि शक्यमग्रे विनास्य रक्ष्यं स्वयमक्षतेन	५६
६. एकान्तविध्वंसिषु मद्विधानां पिण्डेष्वनास्था खलु भौतिकेषु।	५७
७. सम्बन्धमाभाषणपूर्वमाहुः।	५८

तृतीयसर्गस्य सुभाषितानि

१–भवो हि लोकाभ्युदयाय तादृशाम्।	१४
२–क्रिया हि वस्तूपहिता प्रसीदति।	२९
३–पथः श्रुतेर्दर्शयितार ईश्वरा मलीमसामाददते न पद्धतिम्।	४६
४–यशस्तु रक्ष्यं परतो यशोधनैः।	४८
५–पदं हि सर्वत्र गुणैर्निधीयते।	६२
६–गलितवयसामीक्ष्वाकूणामिदं हि कुलव्रतम्	७०

इति प्रश्नोत्तरी समाप्ता

श्रीकाशीपतिः पातु वः